विमर्श

समीक्षा

*

विशेष—

पृष्ठ ७१ पर प्रकाशित 'भारत में देवदासी : अनुकथन' शीर्षक विमर्श के लेखक श्री जयशंकर मिश्र का नाम छूट गया है। कृपया सुधार लें।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६७] वैशाख, संवत् २०१६ [अंक १

यक्षगान

कर्ण राजशेष गिरिराव

नाट्य जीवन की अनुकृति है। लोकजीवन और लोकनाट्य का अगागी सबंध है। लोकनाट्य परपरा म लोकमानव्य का स्पष्ट रूप झलकता है। दक्षिण भारत मे भी लोकनाट्य परपरा के विविध रूप विकसित रहे हैं। यह परपरा अत्यत प्राचीन एव महत्वपूर्ण थी। जनजीवन के चिरतन विकास मे इस लोकनाट्य परपरा का योगदान रहा है। यक्षगान दक्षिण लोकनाट्य परपरा का एक अग है, जो केवल मनोरजन की वस्तु ही नहीं, अपितु सास्कृतिक विचारधारा एव प्रगतिशील जनजीवन की साधना की परपरानुगत वस्तु रही है।

यक्षगान की व्युत्पत्ति के विषय मे विभिन्न मत हैं। स्वर्गीय वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने 'सुग्रीवविजय' नामक यक्षगान की भूमिका में अपना अभिप्राय निम्नलिखित रूप मे अभिव्यक्त किया है — प्राचीनकाल मे द्रविड भाषाओं म विकसित दृश्य प्रबंधों को 'कुरवज' कहा करते थे। आध्र, तमिल एव कर्नाटक प्रदेशों के अरण्यों मे बसनेवाले आदिम वासी चेंचु, कुरव, कोव, कोय हैं। कुरव जाति के लोगों का पदनृत्य (अजे = अडुगु = पद = नृत्यविशेष) कुरवजे कहलाता हैं। 'चिंदु', 'गंतु', 'गोंद्दिल', 'अजे' 'अग' इत्यादि नृत्य विशेष हैं। आध्र प्रदेश म अनेक युगों से श्रीशैल, इद्रकील नगर (विजयवाडा) आदि शैव मदिरों, नवेदाद्रि आदि नृसिंह मंदिरों के पर्वत प्रातों मे वार्षिक महोत्सवों के शुभ अवसर पर (जिसे यात्रा, जातर या 'जात्र' कहते हैं) नागरिक इकट्ठा हुआ करते थे। इन नागरिकों के विनोदार्थ वहाँ के आदिम वासी रात्रि के समय नृत्यों का प्रदर्शन कर धन उपार्जन किया करते

थे। आदिम वासी 'कोरव' जाति के नृत्यों को 'कोरवंजु' कहते हैं। 'कोरवंजे' पहले नृत्यविशेष के लिये, तदनंतर नृत्यसमन्वित लघु गेयों के लिये, तदुपरांत कुरव जातिवालों के लिये प्रयुक्त हुआ है। कुरव जातिवालों के ये नृत्य ही क्रमशः तत् तत् पर्वत प्रांतों की स्थल माहात्म्य-कथाओं से पूर्ण शिव एवं विष्णु कथाओं से परिपुष्ट हो विशिष्ट गेय नाट्यों का रूप धारण कर चुके हैं। तब माया किरात के वेष में स्थित पार्वती-शिव-कथा-संबंधी किरातार्जुनीय; नृसिंहस्वामी-चेंचीत (लक्ष्मी) विवाह-संबंधी स्थल - महात्म्य - कथाएँ 'कुरवजु' नाम से प्रसिद्ध थीं। ये पहले लघुरूप में गेय एवं विशिष्ट रूप में नृत्य से परिपूर्ण थे। पर्वत प्रांतों में परिप्रोषित इन गेय नृत्यों का नगरों में अधिकतर प्रचार होने लगा। फलतः जनता की अभिरुचि अधिकाधिक बढ़ती रही। इसलिये जक्कु (यश) कलाप्रदर्शक नगरों में भी इनको प्रदर्शित करने लगे। इन दृश्य नृत्यों के अभिनय के लिये गेय रूपी श्रव्यवचन की रचना भी जोड़ी जाती थी। राजदरबारों, देवमहोत्सवों एवं जातरों में यक्ष गधर्वादि के वेष धारण कर वारागनाएँ इन्हें प्रदर्शित किया करती थीं। इनमे नृत्यधर्म से गेयधर्म की प्रधानता थी। ये ही यक्षगान कहलाते है।[1]

निष्कर्ष यह कि कुरवजों से यक्षगानों की उत्पति हुई है। 'कुरव' नामक आदिम वासियों का नृत्यविशेष ही 'कुरवजे' है। यह पहले नृत्तप्रधान था, बाद में गेयप्रधान हो इसने नृत्य का रूप अपना लिया है। पर प्रो० नेलटूरि० वेंकटरमणय्या इस मंतव्य का खडन करते हैं।[2] उनका कथन है कि यक्षगान का एक प्रकार 'कुरवजि' है जिसमे 'कुरव' पात्र की प्रधानता रहती है। वास्तव में शब्द का असली रूप 'कुरवजि' है, 'कुरवजे' नहीं। यह तमिल शब्द है। कुरवजि का अर्थ है कुरव जाति-सबंधी स्त्री। इसका समानार्थी शब्द तेलुगु में 'मुरुकत' है। प्राचीनकाल के तमिल यक्षगानों में कुरवजी स्त्री पात्र का प्रवेश होता था। इनकी प्रधानता से इसका नाम 'कुरवजी' पड़ा है। 'कुरवजी' पात्र का जिस यक्षगान मे प्रवेश कराया जाता था, वह 'कुरवजी' कहलाता है। केवल कुरवजियों से यक्षगान की उत्पति नहीं हुई थी।

सत्रहवीं शताब्दी तक यह शब्द आध्रभाषा में प्रयुक्त हुआ प्रतीत नहीं होता।

'अंजि' का रूप श्री प्रभाकर शास्त्री जी ने 'अंजे' के रूप मे परिवर्तित किया है। यह परिवर्तन दोषपूर्ण है। अर्वाचीन यक्षगानों मे 'एरुकत' (कुरवंजि) पात्र को

१. सुग्रीवविजय, भूमिका, पृ० ४–७।

२. आंध्र पत्रिका — वार्षिक अंक खर, १६५१ - ५२, पृ० १७ - १८।

प्रमुख स्थान नहीं दिया गया है। इसलिये 'कुरवंजि'प्रधान यक्षगानों की रचनाएँ अधिकाधिक होने लगीं। तंजाऊर के यक्षगान लेखकों ने समझा कि विनोद का पुट जोड़ने के लिये कुरवंजि पात्र का प्रवेश अनिवार्य है। बाद के लेखकों ने उनका ही अनुसरण किया था।

तमिल प्रांत मे 'शेयोन' या 'मरुगन' की पूजा पर्वतवासियों में बड़ी धूमधाम से की जाती थी। 'कुरवर' नामक ये पर्वतीय जातियाँ स्वयं वन्य प्राणियों को मारकर खाजानेवाली थीं। ये पर्वतवासी अपने प्रिय देवता के सामने मधु, मांस, दाना आदि चढ़ाकर भैंस आदि की बलि भी देते थे। उसके ताजे रक्त में पके चावल मिलाकर दुंदुभि, घंटा, मृदंग आदि विविध संगीत वाद्यों के युगपत् घोष के बीच उसे भगवान् मुरगन को अर्पित कर देते थे। रक्तसिंचित धान्य, रक्तवर्ण के 'कांदल' पुष्प, पशु-बलि का रक्तप्रवाह — इन चीजों से आवृत भयकर वातावरण मे पहाड़ी नर नारी प्रार्थनागीत गाकर 'कुरवे' नामक नृत्य करते थे।[1] नीचे दी हुई सारिणी से भूमि के विभाग और उनसे संबंधित प्रेम पक्ष और ऋतुओं का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा[2]—

भूमिविभाग	प्रेमदशा	ऋतु	कालविभाग
कुरिंजि (पर्वतक्षेत्र)	मिलन (पुन्रतल)	कूदिर, मूनपनि	यामम्
मुल्लै (वन प्रदेश)	धैर्यधारण (इरुतल)	कार	माले
मरुदम् (समतल प्रदेश)	मान (उडल)	षट्ऋतु	कालै तथा वैगरै
नेय्दल (समुद्रवर्ती)	तडप (इरगल)	षट् ऋतु	दरुपदु
पालै (विषम, ऊजड़)	वियोग (पिरिपल)	विनिल पिनपनि	नंदगल

कार = वर्षा; कूदिर = शरद, मूनपनि = शिशिर; पिनपनि = हेमंत; इलवेनिल = वसंत; वेनिल = ग्रीष्म।

१. तमिल साहित्य में भक्तिपरंपरा का स्रोत—जे० पार्थसारथि, भारतीय साहित्य, पृ० सं० १२

२. तमिल साहित्य में ऋतुवर्णन — एस० भागीरथी, वही, अप्रैल, १९५७ पृ० १२७

तोलग्गाप्पियर के कथनानुसार वनप्रदेश के वासियों का उपास्य देव मायोन् अर्थात् विष्णु है। कुरिंजि या पर्वतक्षेत्र के लोगों का पूज्य देव शेयोन या षण्मुख है। मरुद या उपजाऊ समतल प्रदेश के लोग इंद्र की पूजा करते थे। पाले प्रदेश के लोग काली और सूर्य की उपासना करते थे।[1]

प्राचीन काल में भारत में तीर्थयात्राओं का महत्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक प्रचार के लिये तीर्थस्थल अधिक उपयुक्त समझे जाते थे। यात्रा का अर्थ है देव-मंदिरों में आयोजित वार्षिक उत्सव। इन्हें 'जात्रा', 'तिरूनाक' भी कहते हैं। तीर्थ-स्थलों में समाविष्ट व्यक्तियों के विनोदार्थ कठपुतलियों एवं छायानाटकों के प्रदर्शन हुआ करते थे। इनसे ही यक्षगानों की उत्पत्ति हुई है। प्रारंभ में ये केवल मूकनाट्य थे। गेयप्रधान कथा को गायक गाया करते थे, तदनुसार अभिनय करते हुए नर्तक नृत्य करते थे। कथकली ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'कथकलि' शब्द का अर्थ है—कथा का खेल अथवा अभिनय। उसके कथा या साहित्य भाग को कथकलि अथवा 'आट्ट' कहते हैं। आट्ट का शाब्दिक अर्थ है झूमना। अधिकतर आट्ट-कथाएँ श्लोकों और पदों में विभक्त होती हैं, किंतु कुछ में कहीं कहीं 'दंडक' नाम की रचना विशेष पाई जाती है। पुरानी आट्टकथाओं के सब श्लोक संस्कृत में और 'पद' मणिप्रवाल मलयालम भाषा में है। 'दंडक' को एक प्रकार की गद्यरचना कहना अनुचित न होगा। श्लोक नाटकों के विष्कंभक और प्रवेशक आदि का काम करते हैं। नटों का सभाषण 'पद' नामक गीतों में होता है। दंडकों में बीच की कहानी कही जाती है।[2] साहित्य और संगीत में कैरली की प्रगति का निकषोपल है कथकलि।[3] इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि मूकनाट्य से नर्तक संतुष्ट नहीं हुए। सूत्रधार की इच्छा के अनुसार गायकों के गीतों का अनुसरण करते हुए नाचना शायद उन नर्तकों ने पसंद न किया हो। इसलिये वे ही गाते हुए नाचने लगे। दोनों कार्य वे ही करने लगे। मूक नाट्य इसी तरह यक्षगान में परिवर्तित हो परिवर्धित हुआ। यही नहीं, नेपथ्यसंगीत के लिये ये यक्षगान अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए।[4] 'कोरवंजि' पात्र का प्रवेश जिसमें हो वह यक्षगान 'कोरवंजि' कहलाता है। यक्षगानों एवं कुरवंजियों

१. वही, पृ० १४।

२. कैरली साहित्यदर्शन—रत्नमयी दीक्षित, पृ० ६।

३. वही, पृ० १०४।

४. बोंमलाट यक्षगान (मु)—लेखक एस्०वी०जोगाराव, भारती, अगस्त १९५५, पृ० ६३६।

की रचनाप्रक्रिया में विशेष अंतर नहीं है। कोरवंजियों में 'एकव' पात्र का रहना अनिवार्य है जहाँ यक्षगानों में वह याहच्छिक है।[1]

परिभाषा

यक्षगान की परिभाषा के संबंध में विभिन्न मंतव्य हैं। निम्नलिखित परिभाषाओं से 'यक्षगान' का तत्व यत्किंचित् स्पष्ट परिलक्षित होता है —

यक्षगान[2] पूर्वकाल मे साधारण जनता के मनोविनोद के लिये नटों द्वारा साभिनय गाए जानेवाली 'रगडा' आदि छंदभेदों से युक्त पुराणगाथा है।

जैसे, गरुडाचल, सीताकल्याण।

श्री किटेल कन्नडआंग्ल कोश में लिखते हैं कि यक्षगान लोकप्रसिद्ध नाट्यकृति है।[3]

यक्षकृत गान ही यक्षगान है।[4]

यक्षगान एक गीत विशेष है (ब्राउनकोश)।

गीतों का प्रबंध ही यक्षगान है। अर्धचंद्रिका, त्रिपुट, जंपे एवं आठ तालों मे यक्षगानों की रचना की जाती है।[5] श्रीनाथ कवि ने भी 'भीमखंड' मे यक्षगान को गीतों का एक विशेष रूप माना है।

श्रीचिंता दीक्षितुलु प्रजावाङ्मय (मु) मे लिखते है—यक्षगान गीतों का एक प्रबंध है जिसमे एक ही पात्र वेष धारण कर गाते हुए नाचता है। यक्षगानों में नाटकों की तरह अंकविभाजन नहीं होता। पर प्रबंधकाव्यों की तरह इष्टदेवता-प्रार्थना, सुकविप्रशंसा, कुकविनिंदा, षष्ठ्यंत, कथाप्रवेश आदि का समावेश होता है।

श्री एस्० वी० श्रीनिवासराव 'फोक् आर्ट्स' नामक अंगरेजी पुस्तिका में लिखते हैं—जैसा नाम से यह स्पष्ट विदित होता है कि यक्षगान मे बृंदगान की ओर अधिक झुकाव है। इसका देशी शब्द 'हिंमेला' है जो प्रायः भरतनाट्यानुमोदित गंधर्व से इसका अंतर बताने के लिये ही है जो बृंदगान ही यक्षगान कहलता है।

१. यक्षगान—भारती, जय – मार्गशीर्ष, पृ० ५७६-७३।
२. सूर्यरायांध्रनिघंटुवु—आंध्र साहित्य परिषद्, काकिनाडा, पृ० ६१७।
३. ए कैंड आव् पापुलर ड्रामटिक कांपोजिशन।
४. ने० वेंकटरमणय्या—आंध्र पत्रिका – खर (वार्षिक) पृ० ११।
५. अप्पकवीय।

डा० हिरण्मय ने 'कर्नाटक का यक्षगान : उसका स्वरूप' नामक लेख में इस प्रकार लिखा है—

कन्नड के कुछ प्राचीन काव्यों में 'यक्षगान' का प्रयोग 'एकलगाण' के रूप में पाया जाता है। कन्नड में 'एकलगाण' का अर्थ है 'अकेला गाया जानेवाला' गान हो सकता है। यक्षगान में एक ही व्यक्ति आदि से अंत तक गाता है, अतः यह कहा जा सकता है कि इसी लिये इसका नाम यक्षगान पड़ा।[1]

श्री शिवराम कारंत यों अनुमान करते हैं—संभवतः जनता मे गंधर्वगान नामक एक मोहक गायनसम्प्रदाय प्रचलित था। उसी समय कर्नाटकों में इससे भिन्न एक गायक संप्रदाय भी रहा होगा। आगे चलकर गंधर्वगान के अनुकरण में दूसरे संप्रदाय का नाम यक्षगान पड़ा होगा।

जनश्रुति के अनुसार यक्षगान की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—यक्षराज कुबेर शिवजी के अनन्य भक्त थे। शिवजी गान और नृत्य के बड़े प्रेमी थे, इसलिये कुबेर अपने आराध्य की पूजा करते समय अन्य यक्षों के साथ गाते हुए नाचा करते थे। पहले कुबेर लंका मे अपने भाई रावण के साथ रहा करते थे, बाद में वे अपनी शिवभक्ति के फलस्वरूप इंद्र आदि दिक्पालकों में स्थान पाकर अलकापुरी चले गए। जो यक्ष कुबेर के साथ अलकापुरी नहीं जा सके वे लंका मे दानवसंस्कृति के उदय के उपरांत दक्षिण भारत चले आए और कर्नाटक मे बस गए। यक्षों के द्वारा जो गानपरंपरा चल पड़ी, उसी का नाम यक्षगान पड़ा।

यक्ष

अब यह प्रश्न उठता है कि ये यक्ष कौन हैं? बौद्ध धर्म मे स्थविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे – मनुष्यलोक, पशुलोक, नरकलोक यक्षलोक और देवलोक। देवयोनि मे अनेक जातियों का वर्णन है। अमरकोशकार ने गंधर्व एवं किन्नर की तरह यक्ष को एक जातिविशेष बताया है। ये नर देव तथा गंधर्व श्रेणी से संबंध रखते हैं। कुबेर धन के देवता हैं। यक्ष कुबेर के सेवक हैं। इस कारण कुबेर को यक्षेश्वर भी कहा जाता है। यक्ष कुबेर के उद्यानों एवं कोष की रक्षा करते हैं। यक्षपुर अलकापुरी है। यक्षरात्रि दीपावली है। यक्षकर्दम कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोल के सयोग से बना हुआ अंगराग है। यक्षरस फूलों के रस से तैयार की हुई मदिरा है।

१. भारती, जुलाई, १९५८, पृ० ५५।

यक्षवित्त वह पुरुष है जो यक्ष की तरह धन की केवल रखवाली करता है, उसका उपयोग नहीं करता।

बौद्ध धर्म से यक्षों का घनिष्ट संबंध था। बौद्धयुग में ही नहीं, बुद्ध के समय में ही, यक्ष भी उतने ही प्रबल थे जितने नाग। यक्षों और नागों से संबंध रखने वाली बौद्ध कथाएँ प्रायः एक सी प्रतीत होती है। यक्षों को भगवान् बुद्ध ने जिस विधि से वश मे किया, कुछ वैसी ही विधि नागों के लिए भी रही। यहाँ तक कि यक्षों और नागों के प्रमुख नामों में भी बहुत साम्य मिलता है। यक्षों के स्थान पर भी बुद्ध और बौद्धों ने अधिकार किया था। अतः यक्षपद्म का लोक में उस आधार पर कुछ न कुछ प्रभाव रहना ही चाहिए जो बौद्ध धर्म के विकास अथवा ह्रास की कड़ी के रूप में प्रस्तुत हो। आज की लोकवार्ता में ब्रज मे यक्ष 'जखिया' के नाम से पूजा जाता है। साधारणतः यक्ष पूजा 'वीर' के नाम से होती है। अनेकों वीरों के थान आज भी जहाँ तहाँ बिखरे पड़े हैं।[1]

गुरु गुग्गा के पाखंड मे जिन बातों से यक्षप्रभाव सूचित होता है वे इस प्रकार हैं—

१ - गुगुल का महत्व २ - सिर आने की प्रक्रिया ३ - नागों से संबध ४ - यक्षध्वज ५ - जागरण ६ - यक्षप्रश्न ७ - वीरपूजा।

यक्षों का सबंध गूगुल से है, यह बात इससे सिद्ध है कि संस्कृत मे गूगल का नाम ही 'यक्षधूम' है।[2]

'ब्रज लोकवार्ता मे यमपूजा आज भी 'जखैया' के रूप में होती है। जखैये पर घटे (शूकर के बच्चे) बलि दिए जाते हैं। सिर आने की प्रक्रिया[3] का सबंध सामान्यतः यक्षों से लगाया जाता है। यक्षों मे कई प्रकार की शक्तियाँ मानी गई हैं। ये चाहे जब, चाहे जैसा रूप बदल सकते हैं। ये अदृश्य हो सकते हैं। वस्तुतः जैन साहित्य मे विद्याधर और यक्ष एक ही विदित होते हैं। कथासरित्सागर में पेंजर ने बतलाया है कि यक्ष का अर्थ ही है, विद्या शक्तियों का धारण करने वाला।'

यक्ष, किन्नर, गधर्व आदि सुख, समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, जनपद, वर्ष १, अंक ३ सं० २०१०।

२. डा० सत्येंद्र, भारतीय साहित्य, अप्रैल, १६५६, पृ० ४४।

३. वही।

हारीति का स्थान प्रधान है। बौद्ध, जैन तथा हिंदू – इन तीनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। बौद्ध धर्म में इनकी 'जभाल' संज्ञा प्रसिद्ध है। कुबेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली है। कुबेर की स्त्री हारीति प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है।[१] बौद्ध महावश मे लका के आदिवासी यक्ष कहे गए हैं। संतालों का विश्वास है कि अच्छे आदमी मरकर वृक्ष बनते हैं। यक्षवेदी आयतन चैत्य, पेड़ के नीचे पत्थर रखकर ही बन जाता है। संभव है महाभारत में वर्णित चाडालमंदिर, जिसमें मूर्तियाँ तथा घटों का वर्णन है यक्षायतन ही था। न्यग्रोध इन चैत्यों का पवित्र वृक्ष है। ये वृक्ष देवता कहे गए हैं। द्रविड और सुमेर मे भी वृक्ष से संतानकामना की जाती थी।[२]

चैत्यों पर यक्ष, गंधर्व, नाग का पुष्पार्चन किया जाता था। यक्षों तथा राक्षसों की बलि मदिरा और मास है। यक्ष मूर्ति एवं मंदिरों को देखकर गध, फूल, वस्त्र, चढ़ाए जाते थे। घंटानाद, लीला, नाटक, तीव्र मदिरा, पशुबलि का भी उल्लेख है। शिवशंकर, कार्तिकेय इत्यादि महामायूरी सूची म यक्ष कहे गए है।[३] किरात दक्षिण हिमालय में अब किराति या किराति कहलाते हैं। नेपाल की ददुकोसी, और करकी नामक नदियो के बीच किरात देश है। अब खंभू, लिंबू और याखा (यक्ष) जातियाँ इन्हीं में परिगणित होती हैं।[४] संभवतः 'याखा' जैसा ही प्राचीन काल में भी कोई शब्द रहा हो, जिसका सस्कृत रूप यक्ष बनकर उपस्थित है।[५] श्रीवेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री इसी मंतव्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यक्षगानो का प्रदर्शन ही अपनी आजीविका समझ कर गुजर करने वाले कलाकारों म एक विशेष वर्ग 'जक्कुलु' नाम से प्रसिद्ध है। इसी का सस्कृत रूप यक्ष बन कर उपस्थित है।

कोरवंजी

गंधर्व एव किन्नरो की तरह यक्षों का एक विशिष्ट गानसप्रदाय है। 'आजनेय भरत' मे उल्लिखित इस संप्रदाय को स्वीकार करते हुए श्री गोविंद दीक्षित ने 'संगीतसुधा' म लिखा है — 'यक्षेषु गीतमपि गानशैलीम्।[६]' पडितों का अभिप्राय

१. उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृ० २८३।
२. प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास, पृ० ७२।
३. वही पृ० ७३।
४. दी वाइल्ड ट्राइब्स आव् इंडिया, पृ० २२।
५. प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास, परिशिष्ट २।
६. कन्नड यक्षगानमुलु—मुट्नूरि संगमेशम्, भारती (मद्रास), फरवरी, १९२६, पृ० ६५ - ७२।

है कि गंधर्वगान मार्गी एवं यक्षगान देशी शैली है। नाट्य में भी यक्षों का अलग संप्रदाय है। तेलुगु में 'अक्कुल पुरंध्री' एवं कन्नड में 'एकलगान' लोकप्रियिका हैं। लक्ष्मी की पूजा करना इनका कुलाचार है। ये नृत्य भी जानती थीं। 'एकलगाण' का अर्थ मधुर गायक भी होता है पर यह जातिपरक शब्द है। एरुक, एनादि, एर्रगोल्ल, चेंचु, कोय, कोरव, कुरुव, मंदुलमारडु, रामजोगी आदि वे आदिम वासी हैं जो दवाएँ बेचते हैं एवं भविष्य भी कहते हैं। ढक्की, डमरू, कोय्यचिलारु (सितार) आदि इनके प्रसिद्ध वाद्य हैं। ये कोल्लापुरंमा (लक्ष्मी) की पूजा करते हैं। कन्नड देश मे यक्षगान के लिये बयलाट, दशावतार, मेला आदि पर्याय पद प्रयुक्त होते हैं। 'कोरव' एरुक जाति के हैं। 'कोरवंजि' एरुक जाति की स्त्री है। जिसमें कोरवजि या 'एरुकत' आती है उसी यक्षगान को 'कोरवंजि' कहते हैं।

'कोरवंजि' तीन प्रकार के होते हैं—

प्रथम प्रकार मे कोरव एवं कोरवंजि का प्रणयवृत्तात चलता है। चेंचु लक्ष्मी सिंगी या कोरवंजी का पात्रत्व धारण करती है; नृसिंहस्वामी कोरव या सिंगडु बनते हैं। तेलुगु मे गरुडाचल माहात्म्य(मु), 'चोडिगानि कलापमु' इस वर्ग के हैं। शाहजीकृत 'किरातविलास' यक्षगान में पार्वती परमेश्वर एरुक दंपति बनते हैं।

द्वितीय प्रकार के कोरवंजों में नायक 'एरुक' वेष में नायिका से मिलता है; उसकी हस्तरेखाओं की परीक्षा करता है। शीघ्र ही पति के मिलने का भविष्य कहकर उसको सात्वना देता है। यही नहीं, पूर्वराग का प्रदर्शन भी करता है। तेलुगु मे 'रामुलवारि एरुक', 'सीताकल्याण' इस वर्ग के हैं।

तीसरे प्रकार के वे हैं जिनमें मुख्य कथा से कोई सबंध न रहने पर भी किसी न किसी तरह कथा से सबध जोड़ कर उसके द्वारा नायिका को 'एरुक' (जानकारी) कहना, एरुक राजा का प्रवेश, हास्यपूर्ण वर्णन, एरुक दंपतियों के वादविवाद आदि का समावेश होता है, जैसे पार्वती कोरवंजी।

आंध्र और कन्नड यक्षगान में अंतर

कन्नड और तेलुगु के यक्षगानों मे ये विशेष अंतर दीख पड़ते हैं—

कन्नड	तेलुगु
पात्र मूकनृत्य का अभिनय करते हैं, सूत्रधार (भागवतार) गाता है तथा पात्र नहीं गाते।	पात्र गाते हैं, प्रवेशगीत गाते हैं तथा प्रवेशनृत्य करते हैं।
भरतशास्त्रानुमोदित नहीं हैं।	भरतप्रतिपादित शास्त्र के अनुकूल हैं।
वचन पर विशेष जोर दिया जाता है।	गीत पर विशेष जोर दिया जाता है
तांडव - नृत्य - प्रधान होते हैं।	लास्य - नृत्य - प्रधान होते हैं।

प्रकार

यक्षगान अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें मुख्य पांच हैं—

१. पौराणिक २. ऐतिहासिक ३. सामाजिक ४. वेदांतसंबंधी ५. विनोदात्मक।

पौराणिक—इनकी कथावस्तु किसी पौराणिक कथा से ली जाती है। ये यक्षगान पौराणिक कथासबंधी किसी एक सरस एव मनोहर घटना को लेकर उसके आधार पर लिखे गए हैं। जैसे शचीपुरदर, कालीयमर्दन, हेमाब्जनायिकास्वयंवर, शिवपारिजात, भीमसेनविजय आदि।

ऐतिहासिक—इनमें किसी एक राजा की दिनचर्या, अलकरण विशेष तथा दरबार के वर्णन आदि का समावेश होता है। इनमें शृगार, विलास, दान, धर्म आदि का विवरण भी समाविष्ट है। जैसे, रघुनाथनायकाभ्युदय (मु), विजयराघवचद्रिका-बिलास (मु), लीलावती शाहराजीय (मु) आदि।

सामाजिक—किसी विप्र का मतगकन्या मे प्रेम करना, गुरुजनो की स्वीकृति पाकर विवाह आदि विषयों का उल्लेख रहता है। जैसे सतीपति - दान - विलास (मु), सती दारशूर (मु)।

वेदांतसंबंधी—वेदात के प्रचार के लिये ही ये यक्षगान अधिक उपयुक्त है। जैसे, मुक्तिकांतापरिणय (परमानदयतिकृत), विवेकविजय (चल्ला सूरय), जीवन नाटक आदि।

विनोदात्मक—नर्तकियों के सभाषणपूर्वक नृत्यगीतादि का प्रदर्शन, नाट्य - संगीत - प्रभाव का प्रकटन, सत्राधिकारी, आगतुक विप्र एव दास दासियों के बीच प्रचलित सलापसबधी हास्यपूर्ण विनोद आदि कथावस्तु के आधार होते हैं। जैसे वाद-जय, पंचरत्नप्रबंध, तजापुरान्नदान महानाटक आदि।

विकासक्रम

यह कहना कठिन है कि आध्र प्रात मे यक्षगानकला का प्रारंभ कब से हुआ। श्री नेलटूरि वेंकटरमणय्या जी का अनुमान यह है कि यक्षगानों का प्रादुर्भाव नाटक के उद्भव के पहले ही हुआ होगा। दक्षिण भारत में ही यक्षगानों का विशेष प्रचार था 'सिलप्पदिकारम्' नामक तमिल काव्य में नाटक एवं उनके प्रदर्शनों का उल्लेख था। पर उस समय की कोई नाट्यकृति उपलब्ध नहीं हुई। यह कहा जा सकता है कि दक्षिण देश मे संस्कृत सप्रदाय से भिन्न भाषा, सगीत तथा नृत्य कलाओं को देशी मार्ग कहने अथवा देशी रूप देने की परंपरा नवीं शती ईसवी से प्रारंभ हुई

थी ।[1] यक्षगान को प्राचीन कन्नड के कवियों ने 'एकलगान' कहा था । श्रीधरायकृत 'चंद्रमापुराण' तथा नागचंद्र अथवा अभिनव पंपकृत मल्लिनाथपुराण में 'एकलगाण' का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ग्रंथ बारहवीं शताब्दी के हैं। यद्यपि कन्नड के प्राचीन काव्यों में यक्षगान का वर्णन मिलता है, तो भी उसका विशेष प्रचार सोलहवीं शताब्दी के उपरांत ही हुआ है, क्योंकि इसके पहले का लिखा हुआ कोई यक्षगान उपलब्ध नहीं है।[2]

नन्नेचोडु (१२ वीं शताब्दी पूर्वार्ध) ने कहा है कि चालुक्य नरेशों ने ही आंध्र देश में देशी कवितासंप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने कहा है कि उस समय कई देशी सत्कवि विद्यमान थे। जनता मे लोरी, गौडु गीत आदि प्रचलित थे।[3] आंध्र प्रांत में काकतीय युग से यक्षगानों पर जनता की अभिरुचि बढ़ती रही। पाल्कुरिकि सोमनाथ (तेरहवीं शताब्दी उत्तरार्ध) कृत 'पंडिताराध्य' से यह मालूम होता है कि श्रीशैलम मे शिवरात्रि के महोत्सव के शुभ अवसर पर यक्षगानों के प्रदर्शन हुआ करते थे। उस अवसर पर केवल धार्मिक नाटकों के प्रदर्शन ही नहीं होते थे, वरन् प्रसिद्ध व्यक्तियों के चरितगान भी खेला करते थे। विनुकोंडवल्लभरायकृत 'क्रीडाभिराम' से यह स्पष्ट है कि काकतीय प्रतापरुद्र की वेश्या मायलदेवी को यह सुयोग प्राप्त हुआ था। वल्लभराय हरिहररायडु के समकालीन थे जिन्होंने विजय नगर साम्राज्य पर (ई० १३७८ - १४०४) शासन किया था। श्रीनाथ कवि (१४वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) ने यक्षगानों की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। 'भीमेश्वर पुराण' म एक वेश्या ईशानी का वेष धारण कर द्राक्षाराम की पुरवीथियों मे भिक्षाटन करती थी। यह शायद मूकनाटक हुआ होगा। यक्षगान के गीतों पर अप्प कवि ने लक्षणशास्त्र लिखा है।

१६वीं शताब्दी म यक्षगानों का नया युग प्रारंभ हुआ। इस शती में कई कवि यक्षगान लिखने लगे, राजा कवियों को प्रोत्साहन देने लगे। विजयनगर साम्राज्य के शासक वीर नरसिंहरायलु ने यक्षगान लेखकों एव प्रदर्शकों को खूब प्रोत्साहित किया था। अष्टभाषा कवि, द्विपद 'नारसिंहपुराण' एवं 'वचनभारत' के लेखक प्रोलुगंटि चेन्न कवि ने 'सौरभचरित' नामक यक्षगान भी लिखा था। वीर नरसिंह रायलु ने इस कवि को एक अग्रहार भी दानस्वरूप देकर आदर सत्कार किया था।

१. आं० सा० इ० — सु० प्र० रे०, पृ० २६ ।

२. कर्नाटक का यक्षगान : उसका स्वरूप, भारती, बंबई, २० जुलाई, १९५८, पृ० ५७ ।

कृष्णदेव रायलु के समय मे कूडिपूडि ब्राह्मणों का भागवत मेला यक्षगानों का प्रदर्शन करता हुआ सारे साम्राज्य मे घूमा करता था। कदुकूरु रुद्र कवि ने 'सुग्रीवविजय' नामक यक्षगान कृति का समर्पण जनार्दन देव को किया था। १६वीं सदी के उत्तरार्ध के कर्नूल मडल निवासी पिंगलि सूरना ने 'प्रभावतीप्रद्युम्न' मे 'गंगावतार' नामक नाटक का उल्लेख किया था जो अब अनुपलब्ध है।

विवेचन

यक्षगानसाहित्य को हम निम्नलिखित विभिन्न कालों मे विभाजित कर सकते हैं—

अज्ञात काल (ई० १५०० तक)।
प्रारंभिक काल (ई० १५०० - १६०० तक)।
विकासकाल (ई० १६०० - १८५० तक)।
आधुनिक काल (ई० १८५० से ···)।

अज्ञात काल—यह कहा जा सकता है कि दक्षिण देश में सस्कृत संप्रदाय से से भिन्न भाषा, संगीत तथा नृत्य कलाओं को देशी मार्ग कहने अथवा देशी स्वरूप देने की परंपरा नवीं शती ईसवी से प्रारभ हुई थी।

प्रारंभिक काल—प्रकाशित एव उपलब्ध सामग्री के आधार पर यक्षगानो म कंदुकूरु रुद्रय्याकृत 'सुग्रीवविजय' सर्वप्रथम रचना मालूम पड़ती है। श्री वेट्टरु प्रभाकर शास्त्री के अनुसार इनका जीवनकाल ई० १५०० से १५७० तक था—माँ चिन्नाबाथी, पिता पेदलिंगनार्य। आत्रेयाचार्य इनके गुरु थे। ये नेल्लूर जिले के कदुकूरु निवासी थे। ये काली एव कदुकूरु ग्रामस्थित जनार्दन के भक्त थे। सन् १५५८ मे बहमनी राज्य के राजा मलिक इब्राहीम ने इन्हें 'द्वयत त्रिणी जनपद' (रेंडुचिंतल पालेमु) अग्रहार के रूप में दिया था।

'सुग्रीवविजय' मे रामायण सुंदरकाड की कथा है। राम और लक्ष्मण का किष्किंधा म सुग्रीव के मित्र बनना, निज वृत्तात, सीतापहरण वृतात, बालिवध, राम-प्रतिज्ञा, ताराविलाप, सुग्रीवपट्टाभिषेक आदि इसके कथाश हैं। त्रिपुट, जपे, कुरुच जपे (लघु), अर्धचंद्रिका, आटतालि, एकतालि द्विपद, धवल, एल आदि गीतों की भरमार है। आहिरी, सौराष्ट्र, भैरवी, कल्याणी, पाडि, और कुछ दरुवु आदि रागों की सूचना मिलती है।

यक्षगानों में 'सुग्रीवविजय' का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें जक्कुल खेल एवं भागवतसंप्रदाय के पात्र नहीं के बराबर हैं। इसका कारण यह है कि यह शृंगार-प्रधान नहीं वरन् वीर रसप्रधान रचना है। शृंगार अंगी रस है। रामविलाप,

एवं ताराविलाप में वियोगश्रृंगार का वर्णन अधिक मार्मिक एवं हृदयाकर्षक है। कथोपकथन—जो गद्य एवं पद्य में हैं—ही सूत्रधार के वाक्य हैं। प्रावेशिकी 'दरुवु' इसमें नहीं है। जैसे सुग्रीव आरहा है (वेडले सुग्रीवुडु) आदि। प्रवेश, निष्क्रमण, उपक्रमण, कथोपकथन पद्य (संधिवचन) में होता है। यह स्वतंत्र रचना है।

पेद्केंप रायुडु मैसूर प्रांत में सुप्रसिद्ध 'एलहंक' राजवंश में पैदा हुए थे। इन्होंने सन् १५१३ से १५६६ तक मैसूर प्रांत पर हुकूमत की थी। इन्होंने ही सन् १५३७ मे बेंगलूर को आबाद किया था। ये 'गंगागौरी - विलास' नामक तेलुगु यक्षगान के रचयिता थे। इस यक्षगान मे पद्य एवं गीत सरस तथा मनोहर हैं। अंत्यानुप्रास की भरमार से गीत लयसमन्वित है। रचयिता लय, राग एवं ताल के अच्छे ज्ञाता थे। दरुवु आदि के कारण इस यक्षगान मे देशीयता का पुट झलकता है।

स्वर्णकाल—सन् १५६५ में तालिकोट युद्धानंतर विजयनगर साम्राज्य की राजधानी विजयनगर नहीं था। सदाशिव राव तिरुमलराय के तत्वाधान में उसे चंद्रगिरि को बदलदिया गया था। तंजाऊर, मधुरा, चेंजि, मैसूर के राजप्रतिनिधि विजयनगर साम्राज्य के सामंत थे। ये अमरनाथयंकर नाम से सुप्रसिद्ध थे। चद्रगिरि, जो बहुत दूर पर था, विजयनगर साम्राज्य की राजधानी था। साम्राज्य की क्षीणता एव सम्राटों की अशक्तता का अवकाश लेकर वे स्वतत्र हुए। इधर विजयनगर के राजओं पर गोलकोंडा एव बिजापुर के बहमनी सुलतान आक्रमण कर रहे थे। उधर दक्षिण में तंजाऊर एव मधुरा के नायक राजा सर्वस्वतंत्र हो राज्यपालन करने लगे। वे संगीत एव साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये तन मन धन से निरंतर योगदान करते रहे। इनके तत्वावधान मे ही यक्षगानों की राजदरबार में सुस्थिर प्रतिष्ठा हुई। १६ वीं शताब्दी में यक्षगान का प्रणयन प्रारभ हुआ, १८ १९ वीं शताब्दियों मे वे फूले फले, सन् १६०० से १८५० तक यक्षगानों का स्वर्णयुग था।

नायक राज्य तंजाऊर चिनचेवप्प नायक के शासन मे स्वतत्र हुआ। उनके पुत्र अच्युतप्प नायक ने सन् १५८० - १६१४ तक राज्य किया था। इन्होंने भागवत कुटुब के ब्राह्मणों को जो तंजाऊर आए, अग्रहार देकर काफी सहायता की थी। रघुनाथ नायकुडु (सन् १६१४ - १६३३) साहित्यभोज एव अपरकृष्णदेवराय थे; इनके मत्री गोविंद दीक्षित तिम्मरुसु की तरह योग्य मत्री, संगीत साहित्य एव राजनीति कुशल थे। रघुनाथनायक कवि एवं वीर थे। ये कविराज शिरोमणि बिरुदांकित, कृतिकर्ता एवं कृतिभर्ता थे। चेमकूर, वेंकट कवि, कृष्णाजी, मधुरवाणी आदि कवयित्रियाँ इनके दरबार मे विलसित थीं। इनके तीन यक्षगान भी हैं—१ - गजेंद्रमोक्ष, २ - रुक्मिणीकृष्णविवाह एव ३ - जानकीपरिणय। रघुनाथमेला, जयंतसेना, रामानंद इनकी कल्पना की उपज हैं।

विजयराघव नायक (सन् १६३३ - १६७३) रघुनाथ नायक के पुत्र थे। इन्होंने २३ यक्षगान लिखे। ये अष्टभाषाधुरीण, प्रकांड पंडित, चतुर्विध कविता-निर्वाहक, सार्वभौम बिरुदांकित थे। विजयराघव के पुत्र मन्नारदेव, कोनेटि दीक्षित, पुरुषोत्तम दीक्षित, कामरसु वेंकटपति सोमयाजी यक्षगानों के लेखक थे। पसुपुलेटि रंगाजंमा, कृष्णाजी आदि कवयित्रियाँ इनके दरबार मे थीं। इनके दरबार में प्रसिद्ध नर्तकियाँ थीं, जो विविध नृत्यकलाओं मे विशेषज्ञा थीं —

नाम	विशेष योग्यता
चंद्रलेखा, रूपवती	चौपद
चंपकवल्ली	शब्दचूड़ामणि
मूर्ति	जक्किणी
कोमलवल्ली	कोरवजी
लोकनायकी	नवपद
शशिरेखा	देशी
रत्नगिरि	दरुवुपद
भागीरथी	पेरणी

विजयराघव यक्षगानों के पितामह थे। उन्होने २३ यक्षगान लिखे थे —

१ - राजगोपालविलास (मु), २ - चेंगमलवल्लीपरिणय, ३ - गोवर्धनोद्धरण (मु), ४ - रतिमन्मथविलास (मु), ५ - रासक्रीडा नवनीतचोर (मु), ६ - पारिजातापहरण (मु), ७ रुक्मिणीकल्याण (मु), ८ - राधामाधव (मु), ९ - घनाभिराम (मु), १० - सत्यभामाविवाह (मु), ११ - उषापरिणय (मु), १२ - दक्षिण द्वारका - स्थलवर्णन (मु), १३ - कालीयमर्दन (मु), १४ - रघुनाथाभ्युदय (मु), १५ प्रह्लादचरित्र (मु), १६ - पूतनाहरण (मु), १७ - विप्रनारायणचरित्र (मु), १८ - समुद्रमथन नाटक (मु), १९ - कृष्णविलास (मु), २० - मोहिनीविलास (मु), २१ - जानकीकल्याण (मु), २२ - प्रणयकलह (मु), तथा २३ - कंसविजय (मु)।

हर यक्षगान निम्नलिखित प्रार्थनापूर्वक 'सीस' पद्य से प्रारंभ होता है —

भोजकन्यामुखांभोजराजमराल
सत्याघनस्तनस्तबकभृंग !
जांबवतीविलोचनचकोरशशांक
मित्रविंदातटिन्मेघरूप !
भद्रावशावशभद्रवंतीवल
वरसुंदरवामनोवनमृगेंद्र !

लक्षणारूपकलापिनीपर्जन्य
भानुसुता-लता-पारिजात !
षोडशाक्षीसहस्रचक्षुः प्रसार
हार-सार-मसार-मोहन-शरीर !
'विजयराघवं भूपाल-भजन-लोल
केलु मोड्येद्राज गोपाल ! नीकु ॥

यह देवतास्तोत्र है पर इसमें कवि का नाम भी जोड़ दिया गया गया है। 'सुग्रीव विजय' में कवि का नाम नहीं आता। 'सुग्रीवविजय में कवि कृतिपति की प्रशंसा करता है जो प्रबंधशैली की विशेषता है न कि यक्षगान की। इसलिये विजयराघव देवतास्तोत्र के अनंतर 'कैवार' को जोड़ते हैं।

राज गोपाल चरणारविंद भजनानंद सांद्र !
रघुनाथनायक रत्नाकरावतीर्ण संपूर्ण पूर्णिम चंद्र !
पांड्य तुंडीरादि वैरि गज कंठीरव किशोर !
कलावत्यंबिकाकुमार ! चंद्रोपेंद्र सुरेंद्र नंदन-
कंदर्पकोटि सौंदर्यधुर्य ! जीर्णकर्णाटक साम्राज्य
सिंहासनास्थापनाचार्य ! समरसभयाचरित
समस्त निस्तुलतुलापुरषादि महा दानापदान
प्रवर्तितकीर्तिधौरेय ! संगररंगगांगेय !
प्रतिदिन बहु सहस्र ब्राह्मणाभिष्ट मृष्टान्न दान
दीक्षाधुरीण ! मानिनीनूतनपंचबाण ! विश्व-
विश्वंभराभरणविचक्षण दक्षिण भुजादंड !
शाश्वतैश्वर्य धौरंधर्य - मेरुकोदंड ! दक्षिण-
सिंहासनपट्ट भद्र ! कलियुग-रामभद्र ! चतुर्विध-
कविता निर्वाहक ! सार्वभौम बिरुदांगद बिराजमान
चरणांभोज ! कवि-समाज-भोज ! जनकचरण-
राजीव-सेवा-विधायक ! विजयराघवनायक !

तदनंतर वचन में नाटक आदि का परिचय यों दिया जाता है—

'स्वामीकृत' विप्रनारायणचरित नामक विचित्र नाटक अभिनय कुशलतापूर्वक प्रदर्शित किया जाता है एवं सुनाया जाता है; सावधान होकर सुनिए।[1]

1. पराकु ! स्वामिवारु हर्वांचिन विप्रनारायणचरितं बनु विचित्र नाटकंबु नटपटिम गनुपिंच विनिपिंचेमु। विननवधरिंपुमु। पराकु ! स्वामि ! पराकु !

विजयराघव ने अपनी रचनाओं में पूर्व रचनाओं की अपेक्षा कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, जिनकी नकल बाद के कवियों ने की। उन्होंने नादीप्रस्तावना की तरह देवतास्तोत्र के बाद 'कैवार' को जोड़ दिया है। अंत में भरतवाक्य से ही नाटकांत होता है। त्रिपुट आदि तालयुक्त रचनाएँ होने पर भी 'रगडों' को छोड़कर 'दरुवु' (ध्रुवागान) एवं 'पद' को जोड़ दिया हैं। संभाषणों को जोड़कर नाटक में सजीवता लाने का प्रयत्न किया है। वह भी केवल गीतों में ही नहीं, वरन् वचनों में भी। विजयराघव की पत्नी रंगाजंमा (कुछ दरबार की ही विदुषी कहते हैं) ने केवल पात्रोचित संभाषण द्वारा हास्य का पुट लाने का प्रयत्न किया था।

कोनेटि दीक्षित ने विजयराघवकल्याण नामक यक्षगान लिखा था जिसमें विजयराघव एवं कांतिमती का विवाह वर्णित है। विजयराघव के दरबारी कवि कामरसु वेंकटपति सोमयाजी ने 'विजयराघवचंद्रिकाविलास' नामक यक्षगान का प्रणयन किया था जिसमें विजयराघव का चंद्रिकाविहार मनोहर रूप में वर्णित है। पुरुषोत्तम दीक्षित ने 'तंजपुरान्नदान' महानाटक नामक यक्षगान लिखा, जिसमें तेलुगु प्रांत में प्रचलित पकवानों का मजेदार वर्णन है। यह शृंगार, हास्य एवं करुण रस प्रधान है। विजयराघव के पुत्र मन्नारुदेवुडु 'हेमाब्जनायिका स्वयंवर' यक्षगान के कर्ता थे। इसमें मन्नारुदेव द्वारा क्षीरसागर से उत्पन्न अमृत देवों को प्रदान कर समुद्रपुत्री क्षीरकताब्रा से विवाह करने की कथा वर्णित है।

नायक राजाओं के समय में यक्षगानों में कुछ शैलीगत विशिष्ट रूप जोड़ दिए गए हैं। यह सच है कि देवतास्तोत्र से रचना आरंभ करना भारतीयों के लिये नई वस्तु नहीं है। पर उस समय राजस्तुतिपरक 'कैवारों' को जोड़ना अत्यंत आवश्यक विषय था क्योंकि यक्षगान आदि राजाओं के समक्ष खेले जाते थे। शार्ङ्गदेव, रामामात्य एवं गोविंद दीक्षित ने 'कैवाड' प्रबंधकों के राजस्तुतिपरक बिरुद, गद्यादि को प्रबंधों की तरह देशी प्रबंध का विशिष्ट रूप मान लिया है। यह महाराष्ट्रों के यक्षगानों में 'शब्द' या 'सलाम' के रूप में परिणत हुआ। आरंभिक युग में यक्षगानों में केवल त्रिपुट, जंपै, 'आट' तालों में 'रगडों' का प्रयोग किया गया था। पर नायकयुग में उन तालों में ही 'दरुवु' एवं 'पदों' का प्रयोग किया गया है। 'सुग्रीवविजय' आदि यक्षगानों में प्रयुक्त रगडों में लयानुकूलता है, पर गेयानुकूलता नहीं। नायकयुग में राग, कल्पना एवं साहित्यानुकूल रागप्रयोग के कारण गीतों में भावानुगाराग-विस्तृति झलकती है।

मैसूर के राजा चिक्कदेवरायलु (१६७२ – १७०४) 'संस्कृतांध्रकर्नाटक भाषापोषक' थे। इनके नाम पर किसी अज्ञात कवि ने 'चिक्कदेवरायलविलासमु' नामक यक्षगान लिखा था। चिक्कदेवराय के पुत्र कंठीरवराजु (१७०४ – १७१३) अनेक

यक्षगानों के लेखक थे। श्रीनिडदवोलु वेंकटराव बताते हैं कि इन यक्षगानकृतियों के कारण यह स्पष्ट विदित होता है कि ये संगीत, साहित्य एवं नाट्य के पारंगत ही नहीं, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, तेलुगु एवं तमिल में कविता करने में कुशल थे। इनकी मुख्य रचनाएँ हैं —

१ - कोरवंजिकट्ले (इसमे आंध्र कोरवंजि, कन्नड कोरवंजि, प्राकृत कोरवंजि, तमिल कोरवजि नामक चार कृतियाँ हैं), २ - पंचायुध कट्ले, ३ - लक्ष्मी विलास (मु), ४ - कलवाणीविलास (मु), ५ - नाट्यविद्याविलास (मु), ६ - वसंतोत्सव विलास (मु), ७ - विभक्तिकाताविलास (मु), ८ - अष्टदिक्पालकविलास (मु), ९ पावकिनाटक (मु), १० - वैवस्वत नाटक (मु), ११ - नैरुति नाटक (मु), १२ - वारुणि नाटक (मु), १३ - वायवि नाटक (मु) तथा १४ - कौबेरि नाटक (मु)।

उक्त रचनाओं मे ग्रंथ के आदि मे संस्कृत श्लोक हैं, कुछ मे तेलुगु पद्य हैं। मध्य मे वचन हैं। द्विपद, सीस, मतेभादिवृत्त, दरुवु, जपे, त्रिपुट, आटताल, एकताल, ध्रुवताल, मठ्यताल आदि प्रयुक्त है। कुछ मे प्राकृत एवं कन्नड का प्रयोग किया गया है।

विकासकाल— विजयराघव के देहावसान के उपरात नायक राजाओं का शासन समाप्त हो गया। पर साहित्यिक केंद्र तजाऊर ही रहा। महाराष्ट्र राजाओं की मातृभाषा महाराष्ट्र थी, द्रविड देश पर वे शासन कर रहे थे। महाराष्ट्र राजाओं ने कई यक्षगान, पद एवं सगीत मे लक्षणग्रंथ लिखे थे। 'विजयभुवन' नामक साहित्यिक दरबार मे सरस्वती नित्यनवनवोन्मेषशालिनी बन विलसित हुई।

प्रथम महाराष्ट्र राजा एकोजी (सन् १६७६ – १६८०) देशीय संप्रदायों का निरंतर अध्ययन करते रहे। उनके पुत्र शाहजी (सन् १६८४ – १७१२) अभिनवभोजबिरुदाकित ने स्वयं अनेक कृतियो का प्रणयन किया। उन्होंने सस्कृत में 'शब्दरत्नसमन्वय' एवं 'शब्दार्थसग्रह' नामक दो कोश लिखे। सन् १६९३ में इनके दरबार में कई पंडित कवि थे —

रामभद्र दीक्षित	पतंजलिचरित्र, षड्दर्शनसिद्धांतसंग्रहव्याख्या, जानकीपरिणय — सब संस्कृत में।
श्रीधर वेंकटेश्वर	ललितासहस्रनाम तथा सिद्धातसिद्धरंजन की व्याख्या।
पेरियप्प कवि	शृंगारमंजरी शाहजीय नामक नाटक।
वेद कवि	विद्यापरिणय, जीवनंदम् आदि नाटक।
महादेव कवि	प्रबोधचद्रोदय की पद्धति पर अद्भुतदर्पण एवं शुकसंदेश नामक काव्य।
वीरराघव कवि	वल्लीपरिणय।
नल्लदीक्षितुलु	सुभद्रापरिणय नाटक, धर्मविजय काव्य।

मोसलवंशावली के रचयिता गंगाधर मखी एवं उनके पुत्र नरसिंहराय मखी, त्र्यंबक मखी, भगवंतार्य मखी उनके दरबार में थे। शाह ने शाहराजपुर नामक ग्राम ४६ पंडितों को जागीर के रूप में दिया। शाहजी की कृतियाँ प्रायः बीस हैं; गद्य, पद्य, गेय—

१ - किरातविलास (मु), २ - कृष्णलीलाविलास (मु), ३ - गंगा - पार्वती-संवाद (मु), ४ - जलक्रीड (लु), ५ - त्यागराजविनोद चित्रप्रबंध नाटक (मु), ६ - द्रौपदीकल्याण (मु), ७ - पंचरत्न प्रबंध नाटक (मु , ८ - पार्वतीकल्याण (मु), ९ - रतीकल्याण (मु), १० - रामपट्टाभिषेक (मु), ११ - रुक्मिणी - सत्यभामा-संवाद (मु), १२ - वल्लीकल्याण (मु), १३ - विघ्नेश्वरकल्याण (मु), १४ शंकर पल्लकिसेवा प्रबंध (मु), १५ - विष्णुपल्लकिसेवा प्रबंध (मु), १६ - शचीपुरंदर (मु), १७ - शांताकल्याण (मु), १८ - सतीपतिदानविलास (मु), १९ - सरस्वती-कल्याण (मु), २० - सीताकल्याण (मु) एवं २१ - सतिदानशूर (मु)।

इनमें कुछ यक्षगान शिव को, कुछ कृष्ण को, कुछ राम को, रती कल्याण को, कुछ गौरी देवी को समर्पित किए गए हैं। देवी या देवता का संबोधन 'जयजय' शब्द से प्रारंभ होता है। 'तोडयमु' नामक गेय से प्रत्येक यक्षगान का प्रारंभ होता है। बाद में कवि का परिचय एवं कथा संक्षिप्त रूप में सूत्रधार द्वारा 'द्विपद' में दी जाती है। इतिवृत्त के अनुसार विनायक, दौवारिक 'दरुवु' गाते हुए प्रवेश करता है। हर यक्षगान में दरुवु, द्विपद, पद्य, सधिवचन होते हैं। अंकित देव के विविध नाम 'षड्वत' शोभन नामक देशीय गेय में होते हैं जैसे 'मंदरधर का, माधव का, नदकुमार का, नरहरि का, प्रेमपूर्वक गोपियों को विवाहित गोविंद का, यशोदानंद का शोभन हो'। अंत में शोभन या मंगलगीत होते हैं।

गिरिराज कवि शाह भूपाल[1] (सन् १७८४ से १४१२ तक) एवं शरभ भूपाल (सन् १७१२ से १७२८) के दरबार में कवि थे। इनके सात यक्षगान हैं—

१ शाहेंद्रचरित्रमु — 'सामान्या' का प्रेमविरह, चंद्रदूषण, मिलन आदि का समावेश।

२ - राजमोहन कोरवंजि — राजकन्या का प्रेम करना, विरह, एरुकत द्वारा समागम, 'शोभनम्' एवं 'मंगल' गीत से अंत।

३ - लीलावतीकल्याण — शरभाजी के साथ कल्याणपुर के राजा कीर्तिचंद्र की पुत्री लीलावती का विवाहवर्णन।

१. आंध्र पत्रिका मई, १९२६, पृ० १३।

४ - बादजय (नाटक) शाहजी को समर्पित है।

५ - सर्वांगसुंदरीविलास(मु)—प्रथम की तरह प्रेमविरह, चंद्रदूषण, मिलन आदि।

कोरवंजु नामक एरुकता का प्रवेश १८वीं शताब्दी के गिरिराज आदि कवियों की 'एताद्दश दक्षिण देशोत्पन्न कृतियों' से प्रारंभ हुआ। नायक राजाओं की कृतियों मे भी 'एरुकत' पात्र का प्रवेश रहा; पर 'कोरवजि' नाम से व्यवहृत नहीं हुआ। महाराष्ट्र राजाओं के समय मे 'एरुकत' पात्र की प्रधानता रही। 'कोरवंज' नामक यक्षगान मे एरुकत पात्र का समावेश अनिवार्य बना। इष्टदेवता एरुकत के वेष मे आकर 'सोदे' (भविष्य) कहकर समागम का आयोजन करता है। राजमोहन कुरवजी मे सिंगी एवं सिंगड्डु का प्रवेश है। हास्य एवं शृंगार का यथाविधि पोषण हुआ है। इस 'कुरवजि-दरुवु' मे कुरजि, सौराष्ट्र, पूरी, द्विजावती, पाडि, नीलाबरी आदि राग हैं।

शाहजी के अनंतर उनके भाई प्रथम शरभोजी (सन् १७१२ – १७२८) संस्कृताध्र के विद्वान् एवं सगीत के कुशल गायक थे। इन्होंने संस्कृत मे राघवचरित्र नामक काव्य एवं शरभभूपाल कुरवंजि नामक यक्षगान की रचना की। तुलजाजी सन् १७२८ – १७३६) तक शरभोजी के बाद शाहजी के द्वितीय भाई थे। तेलुगु मे 'शिवकाम सुदरी परिणय' नामक यक्षगान लिखा। द्वितीय एकोजी (सन् १७३६–३७) 'बाबा साहेब' कहलाते थे। ये शृंगारी कविता नहीं करते थे। इन्होंने तेलुगु मे द्विपद रामायण एवं सस्कृताध्र मे 'विघ्नेश्वरकल्याण' नामक नाटक लिखा है। 'शबरधरुडु' इन राजाओ के दरबारी कवि थे जो 'बोम्मलाट शासनुडु', 'घनकाव्यभूषण' बिरुदां-कित थे। शबरधन ने 'किरातार्जुनीय' नामक यक्षगान लिखा। प्रतापसिंह (१७४० – ५२) राजा थे। कूचिपूडि भागवतकारों ने इनके नाम पर कई 'सलाम' लिखे। काशीनाथय्या एव वीरभद्रय्या दो प्रसिद्ध भागवत कथाकार थे। काशीनाथय्या ने देवों पर, शाहजी, शरभोजी, तुलजाजी, प्रतापसिंह अकित कई 'शब्द' लिखे। देवार्चन के अवसर पर, दरबार मे, देव या राजा की स्तुति, बिरुदावली, रंगघोषणा, यशोगीत आदि को स्तुति नृत्य गान सहित विद्वान् या नर्तकियाँ प्रदर्शित करती थीं। कूचिपूडि नाटकों मे देवताप्रार्थना के बाद प्रतापसिंहांकित शब्दनाट्य के बाद सभासदों पर पुष्प विकीर्ण करने की प्रथा थी। नायक राजाओं के समय के कैवार ही शार्ङ्गदेव के समय मे 'कैवड' प्रबंध की पराकाष्ठा तक पहुँच कर महाराष्ट्र राजाओं के समय मे 'सलाम' के रूप मे परिणत हुए। 'पराकु', 'शब्द' तजाऊर महाराष्ट्र राजाओं के समय प्रचलित थे। ये कई तरह के होते है — गजेंद्रबृंहितम्, घनगर्जन, मझूर शब्द, शकुंत शब्दम् आदि। देववंदना, सभावदना, 'डालरिंपु' स्वरजतुलु — ये नाट्यो-पयुक्त रचनाएँ है।

'भली भली रे', 'सलाम', 'धिस्लाम', 'पराक' आदि पदयुक्त तालानुगा जति-स्वर-सयुता, स्वल्प-साहित्य-समन्विता रचना 'शब्द' है।

कवयित्रियाँ

यक्षगानो के प्रणयन, प्रचार प्रसार में आंध्र कवयित्रियों का विशेष योग रहा है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि यक्षगानों का जनजीवन से निकट संबंध रहा। बालपापाम्बाकृत 'अक्कमहादेवी' यक्षगान वीरशैवधर्म की प्रतिपादक रचना है। पर आश्चर्य की बात यह है कि इसमें विष्णुस्तुति भी सम्मिलित है। पापांबा प्रथम यक्षगान कवयित्री थी। इस यक्षगान में जपे, एक, आट, त्रिपुट, रचरेकुलु आदि ताल प्रधान है। दरुवु, द्विपद, वचन, कदादि पद्य, अर्धचंद्रिका, जोललु (लोरियाँ) शोभनालु, मगलआरती आदि गीत संमिलित है।

तजाऊर आंध्र नायक राजा विजयराघव के दरबार की कवयित्री पसुपुलेटि-रंगाजम्मा अष्टभाषाप्रवीणा थी। मन्नारुदासविलास में समकालीन जातीय जीवन का जीताजागता चित्र अकित है। अन्नदानवेंकटाबाकृत 'रामायण' यक्षगान (बाल काड मात्र) स्त्रियो के लिये गाने योग्य रचना है। प्रसिद्ध रागो म दरुवुलु, कीर्तन, द्विपद, सीस गीत, पद्य, वचन, लाली, शोभन, मगलआरती आदि गीत है। आख्यानशैली मे लिखित इस रचना मे नाटकीय माधुर्य है। तरिकोड वेंकमाबा-कृत 'शिवविलास' मे लक्ष्मीनारायण क्रमशः 'सिंगीसिंगडु' के रूप म अवतरित होते हैं। गगा गौरी - संवाद, 'सिंगीसिंगडु' का सवाद मनोहर है। कृष्ण नाटक में कृष्ण - लीलाओं का वर्णन है। 'पारिजातापहरण' एक बृहत् यक्षगान है। सरस्वती-ब्रह्म कोरवजी-कोरव का वेष धारण कर सत्यभामा के पास आते हैं। सभाषण, शृंगार एवं हास्यरसपूर्ण तथा अति चातुर्यगर्भित है। 'चेंचु' नाटक मे चेंचु आदिम निवासियों के कुलाचारों का विवरण है। पुत्रशोक की घटना हृदयविदारक है। 'मुक्तिकाता-विलास' वेदातज्ञान की बोधिनी है।

पनुगुल चूडम्मा १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में थीं। इनकी कृति 'रुक्मिणी-कल्याण' मे यक्षगान के लक्षण दृष्टिगोचर होते है, पर यह प्रबंधपूर्ण कहने योग्य नहीं है। दरुवु, सधिवचन, जाल, लाली, गोब्बी, नलुगुपाट, मेलुकोलुपु मगलहारती आदि लोकगीत इसमें संमिलित है। श्रीकृष्ण का बाल्यवर्णन मनोहर है। 'सूर्य नारायण शास्त्री सुता' १६वीं शताब्दी उत्तरार्ध की थी। 'मुक्तिकांता' इनकी कृति है जिसमे जनक महाराज की प्रशंगना से आतरिक यज्ञफल के रूप में मुक्तिकांता का आविर्भाव होने की कथावस्तु है। इसमें दरुवु, द्विपद एवं वचनों का बाहुल्य है। 'सीमंतिनीचरित' मे सीमंतिनी राजपुत्री का नलपौत्र चित्रांगद से विवाह वर्णित है। रचयिता थी श्रीरामपुत्री। यमुनानौकाविहार मे सीमंतिनी के पति का

जलमग्न होना तथा सोमवार व्रतदीक्षा से पतिप्राप्ति की कथा वर्णित है। इसमें ताल-प्रधान 'दरुवु' हैं। तोडि, पुन्नागरागों में कीर्तन, कुछ पद्य, संधिवचन, द्विपद तथा अर्धचंद्रिकाएँ हैं। इसमें 'श्रोडं' एक विशिष्ट रचना ही है।

शेषाम्बाकृत 'मित्रविंदापरिणय' में श्रीकृष्ण एवं मित्रविंदा का विवाह वर्णित है। इसमें नाटकीयता का पुट है। मित्रविंदाविप्रलंभ, स्वयंवर, श्री कृष्ण युद्ध, द्वारका मे कल्याण (विवाह) आदि का वर्णन मनोहर है। प्रसिद्ध रागो में 'दरुवुलु' हैं। पद्य, कंदार्थ, द्विपदार्थ, संधिवचन, संवादवचन, तलडु, शोभनमु, नलुगु, सुव्वी, मगलआरती आदि लोकगीत समाविष्ट हैं। तरंगों के नाम पर 'तालजतुलु हैं। यह श्रृंगार - वीर - रस - पूर्ण रचना है।

मुड्डुवे अलमेल मगतायारम्मा कृत 'सुलतानी कल्याण' मे बीबी नाचारी (तिरुपति वेंकटेश्वर की) की कथा वर्णित है। इसमे दरुवु, द्विपद, सीस, कंद, डाल, लालि, अर्द्धचद्रिकाएँ हैं। धवल एवं शोभन भी समिलित हैं। रामानुजम्माकृत श्रीरगनाथ पगुएयुत्तरोत्सव यक्षगान मे (इसे नवेरुपेरुमाल्लचरित भी कहते है) दरुवु, द्विपद, पद्यगद्य, द्विपदार्थ, कदार्थवृत्त, अर्धचद्रिकाएँ, एकलु, नलुगुपाट, तलुपुदग्गरपाट, कालि, बतिपाट आदि गीत समाविष्ट है।

स्त्रियों के यक्षगानों म उनका सरल एवं सहज व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उनकी रचनाओं म कविता एवं संगीत का सुंदर संतुलन भी है। वेंकमाबा, रगाजम्मा एव शेषमाबा की कृतियों म नाटकीयता का पुट विद्यमान है। ये श्रृंगार, करुण, हास्य एव वीर रस के पोषण में अत्यत कुशल सिद्ध हुई है। शिशुप्रसव, शिशुपोषण, विवाह एव सपत्नी-कलह-सबंधी वर्णनो में स्त्रीहृदय का सजीव स्पदन उपलब्ध होता है। 'कोरवज' सबधी सोदे (जानकारी) हृदयावर्जक है। स्त्रियों की रचनाओं से यह स्पष्ट विदित होता है कि यक्षगान केवल प्रबधरचना ही नहीं वरन् लोकप्रचलित गीतों का सकलन भी है। प्रबंधात्मकता एवं सगीतात्मकता का सुंदर समन्वय यक्षगानों मे योषिताओं के सरस एवं कुशल हाथों मे ही हुआ है।

यक्षगान देशी रूपक है। देशी का अर्थ है संस्कृत एवं प्राकृत से भिन्न तथा अन्य भाषा से भिन्न विशिष्ट रचना। इसलिये श्रीनेलटूरि वेंकटरमणय्या की दृष्टि मे यक्षगान केवल देशी रचना नहीं है।[1] उनके मत के अनुसार यक्षगानों मे उपयुक्त छंद द्विपद है। प्रारभ में इसका ही प्रयोग अधिकतर यक्षगानों मे हुआ होगा। 'द्विपद' देशी छंद नहीं है। द्विपद दो पादों की स्रक् है, यह प्राकृत पद्यभेद है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में 'द्विपदक' का उल्लेख किया है। भरतमुनि ने इसका लक्षण

१. भारती, मद्रास, मार्च १९५४, पृ० २३१।

बताया है। यह 'द्विपदक' ही द्विपद बन गया है। यक्षगान संस्कृत के लिये कोई नई वस्तु नहीं है। विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थांक में ऐसा ही नाटकावतार है। सारांश यह कि यह केवल देशी रचना नहीं वरन् संस्कृत प्राकृत साहित्य से स्वीकृत एवं संबंधित दृश्य प्रबंध विशेष है। यक्षगान की प्रधान वस्तु नाट्य एवं गीत है। प्रह्लाद नाटक के 'कैवार' में विजयराघव इसी प्रकार संबोधित हैं—

> गोपालुनकुवेडुकोलुविन्नपमुलु
> दरुवुलोनर्चुनौदार्यधुर्य
> येललु विडिपदाल् हेच्चु संकीर्तन
> अध्यात्मलोनरिंचुनतुलचर्य
> वालिवचिगुज्जरिविलवेडु दंडु
> लास्यमुकंदुककीडयल्लिकयु
> कोरंवंजि शुभलीलगुजरातिदेशि
> चौपदमुजक्किणिदुरुपदमुमदन
> पददूत्यमुनुजोगि पदपालि
> शारदासाम्राज्यमुनुचिंदुसवतिमच्च
> रंबुलुनाट्य कदंबुलु मोदलैन
> नाट्यमुलहवणिचुनवरसज्ञ !

उक्त पद्य में अभिवर्णित—

१ - वेडिकोल, विन्नपमु, वचन रचनाएँ हैं।

२ - दरुवुल, एललु, पदमुलु, सकीर्तनलु, अध्यात्मकीर्तनलु सुपरिचित गीत हैं।

३ - वालिवचि, गुजरि, विल्वेडु, दडु, कास्यमु कंदुकक्रीडा, अल्लिक, कोरंवजि, शुभ (क) लीला, गुजराति, देशि चौपद, जक्किणी, दुरुपदमु, मदन-पददूत्यम्, जोगि, पदयोलि, शारदासाम्राज्यमु, चिंदु, सवतिमच्चरमु, नाट्यकदंबमु' तत्कालीन प्रसिद्ध देशी नाट्यपरंपरा के रूप थे। नृत्य एवं गीतों का अन्योन्य संबंध है। उक्त नृत्यों के साथ एक एक विशिष्ट गीत भी गाया जाता है।

आधुनिक युग

क्षेत्रय्या के समय गीतों में 'धातु' एवं 'मातु' का सुंदर संतुलन रहा। महाराष्ट्र शाहभूपाल, गिरिराज कवि, मेलट्टूरि वीरभद्रय्या, काशीनाथय्या आदि वाग्गेयकारों की रचनाओं में 'धातु' कल्पना का रूप खूब विकसित हुआ। शाहभूपाल एवं गिरिराज कवि के यक्षगानों द्वारा सलाम, शब्द आदि संगीत रचनाओं, वीर-भद्रय्या, आदिवप्प आदि वाग्गेयकारों की नाट्योचित चौकवर्ण, पदवर्ण, तानवर्ण आदि

रचनाओं द्वारा तथा मार्गदर्शी शेषय्यंगार पल्लवि गोपालय्या, रामस्वामी दीक्षितुलु आदि के कीर्तनों द्वारा धातुकल्पना का विस्तार हुआ। इन सब विद्वानों ने नए मार्ग दिखाए। उपनिषद्ब्रह्मयोगींद्र संकीर्तन (भजन) के प्रचारक बने।

समकालीन शैलियाँ

भले किसी अज्ञात युग मे यक्षगानों का बीजारोपण हुआ हो, काकतीय युग में प्रस्फुटित, १६वीं शताब्दी मे पल्लवित एवं आन्ध्र नायक राजाओं के सुशासन में शाखोपशाखाओं के रूप मे व्याप्त हुआ हो—महाराष्ट्र राजाओं की छत्रछाया में यह महावटवृक्ष की तरह व्याप्त था जिसकी शीतल छाया में 'जनगणमन' का रंजन हुआ। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे कुलपति सिद्धेंद्र योगी ने 'कलाप' की अनुपम सृष्टि की जिनके तत्वावधान में कूचिपूडि भागवत दक्षिण मे पर्यटन करके जनजीवन मे नई स्फूर्ति एव चेतना भागवतमेलाओं के द्वारा ला सके। १८वीं शताब्दी में यक्षगानों ने रूपकों का स्थान अपनाया था। रायदुर्ग के दलवादी तिम्मप्पकृत प्रसन्न वेंकटेश्वर-विलास, कूर्मनाथ कविकृत 'मृत्युंजयविलास' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। १६वीं शताब्दी मे यक्षगान खूब फूले और फले। चर्मपुतली खेलों के लिये उपयोगी 'गुज्जुवाड' कृत लक्ष्मणमूर्छा, सतवेलूरिकृत 'कुशलव', पातपट्टणकृत 'बाणासुर नाटक' आदि कई यक्षगान लिखे गए।[1] बागेपलि अनंतरामाचार्युलु, भट्टनारायण-दास आदि हरिदासों ने अपनी 'हरि' कथाओं का नामकरण यक्षगान ही किया था। बीसवी सदी म वीथिनाटकों, जगम कथाओं एवं प्रचारसाहित्य का एक मात्र आधार यक्षगान ही रहा है। यक्षगान देशी साहित्य का उज्वल एवं महत्वपूर्ण अंग है।

*

१. ते० वि० स० — संस्कृति, पृ० १८७।

कवि देव द्वारा सुजानविनोद की आकारवृद्धि

लक्ष्मीधर मालवीय

•

यों तो अपने एक ग्रंथ के छंदों को अपने दूसरे ग्रंथ में समिलित करने की प्रवृत्ति तुलसी, केशव, मतिराम, घनानद आदि अनेक कवियों मे देखी गई है परंतु कविवर देव इस क्षेत्र मे कदाचित् सबसे आगे हैं। आधुनिक अनुसंधान से यह ज्ञात होता है कि कवि देव द्वारा रचित छंदों की सख्या—वे ही छद देवकृत अनेक अन्य ग्रथों मे एक अथवा अधिक बार आने के कारण—समस्त ग्रथो की कुल छदसंख्या की तुलना मे अष्टमाश है। इन छंदों के आदान प्रदान के अध्ययन से कविदेव की रचना-प्रक्रिया-सबधी रोचक निष्कर्ष निकलते है।

कवि देव के विभिन्न ग्रथों का अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात होता है कि कवि ने न केवल अपने दो ग्रथों मे छंदों का मिश्रण किया है वरन् एक ही ग्रथ का पाठपरिवर्धन कर उसे किसी आश्रयदाता को समर्पित भी किया है। सुजानविनोद के अतिरिक्त 'रसविलास' तथा 'सुखसागरतरग' भी ऐसे ही ग्रथ हैं जिनके दो सस्करणों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है।[1]

'सुजानविनोद' के आकार मे स्वय उसके रचयिता कवि देव द्वारा क्रमशः वृद्धि किए जाने की संभावना पर मेरा ध्यान सबसे पहले कुसमरा से प्राप्त सुजानविनोद की प्रति के आदि मे प्राप्त सुजानमणिसबधी छंदों की (सुजानविनोद १३–३७), जो इस ग्रंथ की अन्य प्रतियों मे नहीं मिलते है, उपलब्धि पर गया था। इन छंदों के पाठ का अध्ययन करने पर सहसा ऐसा प्रतीत हुआ कि कवि ने किसी पूर्वरचित ग्रथ के आदि मे इन छंदों को समाविष्ट कर तथा अंत मे भी नए छद संमिलित कर यह ग्रथ सुजानमणि को समर्पित किया होगा। बाद मे इस सभावना को पुष्ट करनेवाले

१. इस लेख में प्रयुक्त संकेताक्षर इस प्रकार हैं—कु०=इटावा जिले के ग्राम कुसमरा में देववंशजों के संग्रह में 'सुजानविनोद' की प्रति; का०=काशिराज सरस्वती भंडार की इसी संग्रह की प्रति; गं०=गंधौली, जिला सीतापुर की हस्तलिखित प्रति; अ०=श्री अगरचंद नाहटा के अभय जैन भंडार की हस्तलिखित प्रति।

एकाधिक प्रमाण मिलने पर पृथक् रूप से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

केवल कु० प्रति मे प्राप्त आदि के इन तीस छंदों की रचना शिथिल है तथा आश्रयदाता से संबंधित छंदों को छोड़कर इन छदों से यह ज्ञात नहीं होता कि कवि आगे किस विषय का निरूपण या विवेचन करने जा रहा है। तीस छदो का विस्तार कम नहीं होता, अतः कवि इस आकार में ग्रथ के मुख्य विषय का प्राथमिक निरूपण न कर इधर उधर के अप्रधान विषयों में भटकता रहे यह स्वाभाविक नहीं लगता। सुजानविनोद मे ३१वें छद के पश्चात् — जहाँ से सभी प्राप्त प्रतियों मे पाठ समान हैं—जो संगठन लक्षित होता है, विषयनिरूपण में जो त्वरा परिलक्षित होती है उसका प्रथम से लेकर तीसवें छद तक सर्वथा अभाव है। इस प्रकार प्रारभ के ये तीस छद मूल ग्रथ मे बाद मे जोड़े गए लगते हैं।

गं० अ० का० प्रतियों मे इन छंदों की अनुपस्थिति का कारण हमने इन तीन प्रतियों मे इनका त्रुटित होना नहीं माना है। अर्थात् गं० अ० का० प्रतियों में इन छदों का न होना इन प्रतियो के समान आदर्श का प्रारंभिक अंश त्रुटित होने के कारण नहीं है क्योंकि ग० अ० का० प्रतियो में पाठ १।३१ दोहे के मध्य से प्रारंभ न होकर इस दोहे के आदि से प्रारभ होता है। प्रायः जब आदर्श प्रति त्रुटित होती है तो उसकी प्रतिलिपियों मे पाठ किसी त्रुटित छंद से प्रारभ होता है क्योंकि ऐसा बहुधा सभव नहीं है कि आदर्श की अवशिष्ट प्रति के प्रथम पृष्ठ पर पाठ किसी नए छंद के पाठ से ही प्रारभ हो। ग० अ० का० प्रतियों मे प्राप्त प्रथम दोहे, अर्थात् ग्रथ के १।३१वें दोहे मे भी ईशवंदना है तथा दूसरे अर्थात् १।३२वें छद में वृंदावनस्तुति है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि कवि ने कभी ग्रथ का प्रारभ १।३१वें दोहे से किया होगा।

इन दो कारणों से हमने यह माना है कि स्वय देव ने किसी पूर्वरचित ग्रंथ के आदि मे ये तीस छंद समिलित किए हैं। यह पूर्वरचित ग्रथ कौन सा था, इसपर हम आगे विचार करेंगे। स्मरण रहे कि कु० प्रति आद्योपांत एक ही हस्ताक्षर मे है तथा तीसवाँ छंद पत्र के मध्य मे समाप्त होता है एवं अगला छद उसी के पश्चात् प्रारंभ होता है। तात्पर्य यह कि कु० प्रति मे १ से ३० सख्या तक तथा तीस से आगे के छंद एक साथ लिपिबद्ध हैं, किसी अन्य व्यक्ति अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा प्रक्षिप्त नहीं।

ग्रंथ के उत्तरार्ध में कवि द्वारा रचना की आकारवृद्धि किए जाने का प्रमाण भी इसी प्रकार सूक्ष्म है। हमारा अनुमान है कि कवि ने ग्रथ की आकारवृद्धि के लिये वर्तमान सुजानविनोद का षष्ठ तथा सप्तम विलास बाद मे समिलित किया होगा। उपर्युक्त सभावना पर हमने इन दृष्टियों से विचार किया है —

१ - प्रतियों की पुष्पिकाओं का अध्ययन, २ - छंदों का संख्याक्रम, ३ - विषयवस्तु का अध्ययन, ४ - कुसमरा से प्राप्त एक खंडित प्रति तथा ५ - सुजानविनोद के छंदों की सुजानविनोद में ही पुनरावृत्ति।

१. प्रतियों की पुष्पिकाओं का अध्ययन – संपादनकार्य में स्वीकृत विभिन्न प्रतियों के विलास के अंत की पुष्पिकाओं का तुलनात्मक विश्लेषण इस प्रकार है — गं० अ० का० तथा कु० प्रतियों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय विलासों के अंत की पुष्पिका इस प्रकार है — 'इति श्री रसानदलहरी विलासे सुजानविनोदे देवदत्त विरचिते···विलासः।' इन चारो प्रतियों मे चतुर्थ विलास के अंत की पुष्पिका इस प्रकार है – 'इति श्री सुजानविनोदे देवदत्त विरचिते चतुर्थो विलासः।' कु० प्रति ५।३६ पर ही खंडित हो जाती है अतः शेष तीन ग० अ० का० प्रतियों मे पंचम, षष्ठ तथा सप्तम विलास की पुष्पिका इस प्रकार है–'इति श्री सुजानविनोदे देवदत्त विरचिताया ··· विलासः'। अंतिम विलास के अंत मे केवल ग० अ० प्रतियों की पुष्पिका में 'रसानंद लहरी' नाम भी इस प्रकार आया है – 'इति श्री सुजानविनोदे देवदत्त विरचिताया रसानंदलहरी सप्तमो विलासः।'

निष्कर्ष – अंतिम पुष्पिका को छोड़कर रसानदलहरी नाम केवल प्रथम तीन विलासों के अंत की पुष्पिकाओं मे ही मिलता है।

२. छंदों की क्रमसंख्या – ग० अ० का० कु० प्रतियो में प्रथम से लेकर पंचम विलास तक प्रत्येक विलास मे सख्या १, २ से प्रारभ होती है। अ० प्रति में पचम विलास की अंतिम छदसंख्या ६० के पश्चात् छठे विलास मे सख्या १, २ से प्रारंभ न होकर ६१, ६२ है। यह क्रम इस प्रति म ग्रथ के अंत तक है। का० प्रति मे भी पंचम विलास की अंतिम छदसख्या ६० है तथा षष्ठ विलास मे सख्या १, २ से प्रारभ होती है, यद्यपि १८वे छद के पश्चात् संख्याओं का क्रम पुनः १, २ से प्रारभ होता है। इस प्रति के सप्तम विलास में सख्याक्रम १, २ है। गं० प्रति मे पंचम विलास की अंतिम छदसंख्या ६० के पश्चात् षष्ठ विलास में छदसंख्या १, २ से प्रारंभ होती है परतु इस प्रति मे भी तीसरी सख्या के पश्चात् ६४, ६५ सख्याएँ है। स्मरण रहे कि अ० प्रति मे भी इन्हीं छदों पर ६४, ६५ सख्याएँ हैं। गं० प्रति मे यह क्रम ६६ संख्या तक है, इसके बाद ७० के स्थान पर १० सख्या पड़ी है। स्पष्ट है कि गं० प्रति मे भी, का० प्रति की भाँति, सख्याक्रम सुधारने का असफल प्रयत्न किया गया है। गं० प्रति में अगले विलास मे सख्याक्रम १, २ से प्रारभ होता है।

निष्कर्ष – पंचम विलास के अंत तक छंदों पर संख्या डालने का क्रम एक है, उसके बाद यह क्रम भिन्न हो जाता है।

३. विषयवस्तु का अध्ययन – सुजानविनोद का मुख्य विषय विभिन्न ऋतुओं में मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा नायिकाओं की प्रेमलीला का वर्णन है। कवि के ही शब्दों मे —

> द्वै द्वै रितु तीनो समय दंपति तीनि सरूप।
> रस उतपत्ति बिलास अरु सुरस प्रकास अनूप॥
> रस उतपत्ति विनोद में सरस बिलास प्रमोद।
> सिसिर आदि द्वै द्वै रितुनि रस प्रकास सामोद॥
>
> – सुजानविनोद १।३३,३४।

इस प्राक्कथन के अनुरूप कवि ने द्वितीय तथा तृतीय विलासों मे शिशिर एवं वसंत ऋतुओं मे मुग्धा नायिका की प्रेमलीला का वर्णन किया है –

> सिसिर बसंत बिनोद रितु दंपति सुभ संपत्ति।
> तिनमें मुग्ध बधूनि की रति सिंगार उतपत्ति॥
>
> – वही २।१।

चतुर्थ विलास मे ग्रीष्म तथा पावस ऋतुओं मे मध्या नायिका का विस्तार से वर्णन मिलता है –

> मध्य किसोरी सुंदरी सुंदर नवलकिसोर।
> ग्रीसम पावस रितु समय सुनि प्रमोद घनघोर॥
>
> – वही ४।१।

पचम विलास मे शरद और हेमत ऋतुओं मे प्रौढ़ा नायिका का वर्णन है—

> प्रौढ़ सुंदरी भामिनी रसिकराइ ब्रजनाथ।
> ... ... बिहरत निस दिन साथ॥
>
> वही ५।१।

तथा —

> शरद हेमंत रितु दुहु सुख विहार गृह गोद॥
>
> वही ५।४।

छठे तथा सातवें विलासों भी ऋतुभेद वर्णित है।

निष्कर्ष – पचम विलास तक षट्ऋतुओं का वर्णन हो चुकने पर षष्ठ तथा सप्तम विलास में षट्ऋतुओं का वर्णन दूसरी बार मिलता है। जब षट्ऋतुओं का वर्णन नायिकाभेद के अंतर्गत ऊपर हो चुका है तो उसी ग्रथ में पृथक् रूप से दूसरी बार षट्ऋतुओं का वर्णन करने की संगति समझ मे नहीं आती।

४. कुसमरा से प्राप्त एक खंडित प्रति—डा० नगेंद्र जी ने इस प्रति का उल्लेख अपने शोधग्रंथ 'देव और उनकी कविता' में पृष्ठ ६६ पर किया है। वास्तव में इस प्रति को प्रकाश में लाने का श्रेय डा० नगेंद्र को ही है। यह प्रति कुल दस पत्रों की है। इनमें से कुछ पर पत्रसंख्या पड़ी है और कुछ पर नहीं। छंदों पर भी संख्या नहीं है, संख्या डालने के लिये स्थान छूटा है। हमने इस प्रति पर विस्तार से विचार 'कुसमरा से प्राप्त देवकृत खंडित ग्रंथ' शीर्षक के अंतर्गत किया है। इस प्रति में देवकृत छंदों की निम्नलिखित कोटियाँ हैं—ऐसे छंद जो केवल सुजानविनोद में मिलते हैं, ऐसे छंद जो सुजानविनोद के अतिरिक्त देवकृत अन्य ग्रंथों में भी मिलते हैं, ऐसे छंद जो सुजानविनोद में नहीं मिलते परंतु देवकृत अन्य ग्रंथों में मिलते हैं तथा ऐसे छंद जो इस प्रति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। प्रथम कोटि, अर्थात् केवल सुजानविनोद में मिलनेवाले इस प्रति के छंदों में अधिकतर छंद सुजानविनोद के षष्ठ तथा सप्तम विलास के छंद हैं। 'सुजानविनोद' के छंद ६।१ से लेकर छंद ६।४० अर्थात् षष्ठ विलास के अंतिम छंद तक तथा छंद संख्या ७।१ से लेकर प्रायः छंदसंख्या ७।२९ तक इस प्रति में समान रूप से मिलते हैं।

निष्कर्ष—सुजानविनोद का षष्ठ तथा सप्तम विलास इस प्रति में प्रायः एक क्रम से मिलता है।

५. सुजानविनोद के छंदों की सुजानविनोद में ही पुनरावृत्ति—देव की रचनाओं में एक ग्रंथ के छंद दूसरे ग्रंथ में प्रायः पाए जाते हैं परंतु एक ग्रंथ के छंदों की उसी ग्रंथ में पुनरावृत्ति प्रायः कम देखी जाती है। केवल 'सुखसागर तरंग' तथा 'काव्यरसायन' में ऐसी पुनरावृत्ति अवश्य मिलती है। सुखसागर तरंग वास्तव में देव के समस्त ग्रंथों का स्वयं उन्हीं के द्वारा संकलित संक्षिप्त संग्रह है। अतः इस ग्रंथ में एकाधिक ग्रंथों में पहले से विद्यमान एक ही छंद का एकाधिक स्थलों पर आना स्वाभाविक है। काव्यरसायन भी विस्तृत ग्रंथ है, उसे काव्यशास्त्रीय कोश कहें तो अत्युक्ति न होगी। इसमें ऐसे ही छंद एक से अधिक स्थल पर आए हैं जो एक से अधिक लक्षणों के उदाहरण हो सकते हैं। इस दृष्टि से सुजानविनोद की स्थिति इन उपर्युक्त दो ग्रंथों से भिन्न है परंतु उसमें भी एक ही छंद की पुनरावृत्ति अनेक स्थलों पर हुई है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सुजानविनोद के पंचम विलास के पश्चात् अनेक ऐसे छंद मिलते हैं जो पंचम विलास के पूर्व आ चुके हैं। अधिक संभव यही लगता है कि इन छंदों की सुजानविनोद में ही पुनरावृत्ति सुजानविनोद के पाठ से न होकर किसी अन्य ग्रंथ अथवा संग्रह से हुई होगी। इस प्रकार पंचम विलास के पश्चात् सुजानविनोद में छंदों की पुनरावृत्ति भी इस स्थल पर विभाजक रेखा होने की संभावना पुष्ट करती है। नीचे ऐसे छंदों की प्रतीकसूची सुजानविनोद में दोनों स्थलों के निर्देशसहित दी जाती है—

सीतल महल मद्दा—७।६,४।७; **खरी दुपहरी**—७।११,४।२४; **हँसवि हँसति आई**—७।१६,४।३३; **सहर सहर**—७।२३,४।८; **पीत रंग सारी**—७।३०,४।२५; **पीछे परबीनै**—७।३२,५।२६; **बौरे बौरहर पर**—७।३४,५।११; **फूली रूप मंजरी**—७।४३,१।२३; **सीत बसंत**—७।४४,१।२४; **बालम बिरह**—७।४५,४।३७।

केवल 'एक मैं समझायो' छंद ऐसा है जो षष्ठ विलास के पूर्व दो स्थलों ४।५७ तथा ५५।२ पर आया है।

यदि देव ने सुजानविनोद की आकारवृद्धि स्वय की तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। रसविलास की विभिन्न हस्तलिखित पोथियों की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि देव ने अपने इस ग्रथ के आकार में भी स्वय परिवर्धन कर उसे भोगीलाल को समर्पित किया था। यह आकारवृद्धि भी प्रायः सौ छदों की थी। सुखसागरतरग जैसा प्रायः नौ सौ छदों का बृहदाकार संग्रहग्रथ भी अकबर अली खाँ को समर्पित होने के अतिरिक्त इन्हीं छदों मे उलटफेर कर तथा अनेक नए छंद समिलित कर महाराज जसवतसिंह को भी समर्पित है। इन दोनों ही सस्करणों की हस्त लिखित प्रतियाँ मिलती है।

इन तथ्यो के आधार पर सुजानविनोद के सबध मे हमारा मत है कि देव ने इसके आदि तथा अत म नए छदों का समावेशकर इस ग्रथ का वर्तमान रूप तैयार किया तथा सुजानमणि को समर्पित किया। पहले इस ग्रथ का नाम कदाचित् 'रसानद-लहरी' था। सुजानमणि को समर्पित करने के लिये इसका पुनर्नामकरण 'सुजानविनोद' किया गया। रसानदलहरी का आकार वर्तमान ग्रथ के १।३१ से लेकर तृतीय अथवा पचम विलास तक था, अर्थात् षष्ठ तथा सप्तम विलास 'रसानदलहरी' मे नहीं थे। ग्रथ के उत्तरार्ध मे जो आकारवृद्धि हुई है उसका स्रोत कुसमरा से प्राप्त खडित प्रति जैसा कोई सग्रहग्रथ था। कुसमरा से प्राप्त इस ग्रथ म किसी एक विषय का सुसबद्ध विवेचन न रहने के कारण हमें यह सग्रहग्रथ मात्र प्रतीत होता है। असभव नहीं जो कवि स्फुट छंदों की रचना करने पर उन्हे इस सग्रह में लिपिबद्ध करता रहा हो एव इस प्रति से ही अन्य ग्रथों मे छंद संमिलित किए जाते रहे हों। सग्रह होने के कारण ही सभव है कि इस प्रति के ऐसे छद जो 'सुजानविनोद' में नहीं मिले हैं, कवि ने अन्य ग्रथों मे समिलित करने के विचार से छोड़ दिए हों।

'सुजानविनोद' के उत्तरार्ध मे किए गए आकारपरिवर्धन के छदो का स्रोत कुसमरा की इस खंडित प्रति को ही मानने के दो कारण हैं। प्रथमतः यह तो निश्चित है कि जो छद 'सुजानविनोद' मे पहले भी आए हैं, दूसरी बार 'सुजानविनोद' के उन छंदों की 'सुजानविनोद' मे ही पुनरावृत्ति एक दो स्थलों पर नहीं प्रायः एक दर्जन

स्थलों पर हुई है। कवि ऐसा दुस्साहसपूर्ण कार्य लोकापलोक के भय से नहीं कर सकता। इससे यह प्रकट होता है कि इस आकारवृद्धि का स्रोत सुजानविनोद से भिन्न कोई दूसरा ग्रथ है। फिर, षष्ठ तथा सप्तम विलास का कलेवर इन एक दर्जन समान छंदों से बहुत बड़ा है। प्रश्न उठता है कि इन एक दर्जन समान छंदों के अतिरिक्त इन दो विलासों के अन्य छद कहाँ से आए है। अतः हम यह स्वीकार करते हैं कि ऐसे छंद जो सुजानविनोद के षष्ठ एवं सप्तम विलास में दूसरी बार आए हैं, वे दूसरी बार 'सुजानविनोद' से इतर ग्रंथ से आए हैं — अर्थात् कवि ने ग्रथ का आकार परिवर्धन करते हुए अन्य छंदों के साथ साथ एक प्रकार से भूल से उन छंदों को भी संमिलित कर लिया है, जो पहले से ही इस दूसरे ग्रंथ में विद्यमान थे। यह दूसरा ग्रथ कुसमरा से प्राप्त ग्रथ ही हो सकता है।

कुसमरा से प्राप्त ग्रंथ को सुजानविनोद के षष्ठ तथा सप्तम विलास की आकार - वृद्धि का स्रोत मानने का दूसरा कारण इन दोनों स्थलों पर छंदों का समान क्रम में आना है। पचास साठ छंदों का दो स्थलों पर एक ही क्रम मे मिलना यह सिद्ध करता है कि आकारसवर्धित ग्रथ का पाठ इसी दूसरे स्रोत से आया है। देव ने इसी प्रकार 'प्रेमतरग' के आदि में कुशलसिंहसबधी नए छद जोड़कर 'कुशलविलास' नाम से यह ग्रंथ उन्हें समर्पित किया है। ये छद सुजानविनोद से कुसमरा की प्रति में नहीं आए है। सुजानविनोद के ६।१२,१३,१४ सख्या के छंदों का इस प्रति म न मिलना इसका एक प्रमाण है। क्योंकि यदि ये सभी छद 'सुजानविनोद' से इस प्रति मे आए होते तो उपर्युक्त ये तीन छद भी इस प्रति म अवश्य होते। इस प्रति में प्रमादवश इन छंदों के त्रुटित होने की सभावना भी सही नहीं है क्योंकि इन छंदों के पूर्वापर छंद इस प्रति के एक ही पृष्ठ पर लिखित हैं।

रेखाओं के माध्यम से उपयुक्त विवेचन को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

१।१ से १।३० तक	प्रथम से पंचम विलास तक	षष्ठ एव सप्तम विलास
←	ग्रथ का प्रथम संस्करण	→
आकारपरिवर्धन	अथवा उसका मूल आकार	आकारपरिवर्धन

सुजानविनोद का वर्तमान आकार

*
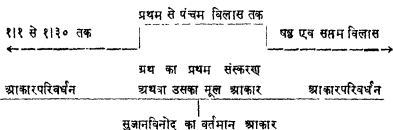
कोसल का प्रारंभिक इतिहास

राजेंद्रबिहारी पांडेय

प्राग्बौद्धकाल

उत्तर वैदिक साहित्य के अंतर्गत शतपथब्राह्मण में सर्वप्रथम कोसल का उल्लेख हुआ है।[1] शतपथब्राह्मण मे आर्यसंस्कृति के प्रसार की गाथा है। इसके अनुसार विदेघमाथव के वंशज कोसलविदेघ ब्राह्मणसंस्कृति से कुरु पचालों के बाद ही प्रभावित हुए। शतपथब्राह्मण के उसी अंश मे सदानीरा कोसल और विदेहों की सीमा के रूप मे वर्णित है।[2] इसी ब्राह्मण साहित्य[3] मे कोसल्य अथवा कोसल के राजा परआट्णार हैरण्यनाभ ने अश्वमेध यज्ञ किया था। आगे काशी और विदेह के साथ भी कोसल का वर्णन हुआ है।[4] वेबर[5] के अनुसार आश्वलायन विदेह के पुरोहित अश्वल का वंशज था, जिसे प्रश्नोपनिषद्[6] मे कोसल कहा गया है।

विदेहों के राजा विदेघमाथव ने अपने पुरोहित गोतम राहुगण के साथ कोसल (अवध) के पूर्व, सदानीरा के पार, सरस्वती के तट पर यज्ञ किया था।[7] सूत्रों में संचित गाथा के अनुसार विदेहों ने पश्चिम की संस्कृति को अपनाया, अर्थात्

१. शतपथब्राह्मण १०, ४, १,१ — वेदिक इंडेक्स, पृ० १६० ।

२. वही ।

३. शतपथ ब्राह्मण, १३,५, ४, ४; प्रश्नोपनिषद् ३,२; शांखायन श्रौत सूत्र, १६-६, ११ - १३ ।

४. शांखायन श्रौत सूत्र, १६,२६,५ ।

५. इंदिशे स्तुदिएँ, १८२,४४१ —वेदिक इंडेक्स, पृ० १६० ।

६. प्रश्नोपनिषद्, ६, १ ।

७. वैदिक एज, पृ० २५४ ।

कोसल विदेह के पूर्व ब्राह्मणवाद में रंग चुका था। परन्तु कोसल की शक्ति क्षीण होते ही विदेहों का सदानीरा नदी पर प्रभुत्व हो गया।[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कोसल के राजा पर - आट्णार हैरण्यनाभ ने अश्वमेध यज्ञ किया था।[2] कोसल, विदेह और काशी के घनिष्ठ संबंध का संकेत हमें इस तथ्य से भी मिलता है कि तीनों राज्यों का पुरोहित एक ही था।[3] आगे ऐसा प्रतीत होता है कि कोसल और विदेह मिलेजुले गणराज्य थे और कुरु पचाल से उनकी शत्रुता थी। ब्राह्मणवाद का जितना कुरु पचाल में प्रभाव था उतना कोसल में नहीं। इसके विपरीत विदेह की ख्याति एवं महत्ता उसके दार्शनिक राजा जनक के प्रभुत्व में चरम सीमा पर पहुँच गई।

काशी सर्वप्रथम कोसल और विदेह के साथ वैदिक काल के पूर्वार्ध में प्रकाश में आया। निकट होने के कारण काशी और विदेह अधिक संगठित थे। वेबर[4] के अनुसार दोनों शक्तियों ने संगठित होकर सामूहिक रूप से उशीनगर का निर्माण किया था। बाद को काशी कोसल से संगठित हुआ और धीरे धीरे कोसल राज्य में ही मिल गया।

वेदों में कोसल

वेदत्रयी में न तो कोसल का उल्लेख हुआ है और न उसकी राजधानी अयोध्या का ही। सर्वप्रथम अथर्ववेद में अयोध्या नगर का उल्लेख मिलता है।[5] शतपथब्राह्मण में भी कोसल का उल्लेख उपलब्ध है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर इक्ष्वाकु नाम का उल्लेख मिलता है।[6] इसमें राजा असमाति का भी उल्लेख है जिसे इक्ष्वाकुवंशीय राजा माना गया है। अथर्ववेद में भी केवल एक स्थल पर नाम पाया जाता है, जहाँ यह भी अनिश्चित है कि वह राजा इक्ष्वाकु का वंशज है या स्वयं इक्ष्वाकु ही। अस्तु, दोनों में से वह चाहे जो हो परन्तु इतना निश्चित है कि वह वैदिककालीन राजा था। ब्राह्मणसाहित्य[7] में त्र्यरुण-

१. वही।
२. शतपथब्राह्मण, १२,२,४,४—वैदिक इंडेक्स पृ० १६०।
३. शांखायन श्रौत सूत्र १६,२६,२।
४. इंदिशे स्तुदिएँ, ए० वेबर।
५. अथर्ववेद कांड १०, सूक्त २, मंडल ३१।
६. ऋग्वेद १०, ६०,४।
७. पंचविंश ब्राह्मण, १३,३,१२।

त्र्यैशाल्व ऐक्ष्वाक का उल्लेख हुआ है। इसकी पहचान बृहद्देवता[1] के त्र्यरुण त्रैवृष्ण तथा ऋग्वेद[2] मे वर्णित त्र्यरुणत्रसदस्यु से की जाती है। ब्राह्मण साहित्य[3] के अनुसार त्रसदस्यु और इक्ष्वाकुओं के संबंध की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि पुरुकुत्स ऐक्ष्वाकु था। इस प्रकार वास्तव मे इक्ष्वाकु वंश मूलतः पुरु राजाओं की वंशपरंपरा है। जिमर[4] के अनुसार वे सिंधुनद के उत्तरी भाग के निवासी थे, परंतु इतिहासज्ञों का विचार है कि वे पूर्वी भाग मे रहे होंगे।[5] परवर्ती इक्ष्वाकुओं का अयोध्या से संबंध रहा है।[6]

इक्ष्वाकु से उत्तर की २०वीं पीढ़ी में युवनाश्व द्वितीय का पुत्र मांधातृ हुआ। वह दस्युओं को मारनेवाला बड़ा प्रतापी राजा था। ऋग्वेद मे अग्नि से उसके लिये प्रार्थना की जाती है।[7] आगे माधातृ को अंगिरस् के बराबर का ऋषि माना गया है।[8] तदुपरात अन्य स्थल पर भी आया ऋषि यही यौवनाश्वमाधाता है। अन्य स्थल[9] पर देखने से विदित होता है कि यह ऋषि अच्छा शासक था। वह केवल अपने शत्रुओं का विनाशक की ही नहीं वरन् उन दोषों से भी मुक्त था जिनके वशीभूत हो राजा लोग अपने धर्म से विचलित हो जाते थे। इन मंत्रों में कहीं मधातृ तथा कहीं मांधातृ प्रयुक्त हुआ है परंतु दोनों के एक होने मे संदेह नहीं प्रतीत होता।

पुराणों में कोसल

कोसल सूर्यवंशी राजाओं का राज्य था और अयोध्या उसकी राजधानी थी। विशेषता यह है कि जितने राजवंश भारत मे हुए उनमे यह अटूट क्रम में सबसे सुदीर्घ है। पूर्व मे स्थित होने के कारण कोसल का राज्य उन विपत्तियों से बचा रहा जो

१. वही, ५, १८ — वेदिक इंडेक्स, पृ० १, ७५।
२. वही, ५, २७,३, वही और ऋग्वेद ३, १३३, १३८; ४, ३२४।
३. शतपथ ब्राह्मण १३,५,४,५।
४. अल्टिंडिशेस लेबे, १०४, १३०।
५. पिशेल, वेदिशे स्तुदिएँ, २, २१८; गेल्डनर, वही, ३, १५२; वैदिक इंडेक्स १, ७५।
६. वेदिक इंडेक्स १, ७५।
७. ऋग्वेद ८, ३९, ६।
८. वही, ८, ४०, १२।
९. वही, १०, १३४ के आगे।

पश्चिमी राज्यों पर आई थीं। बाह्य आक्रमणकारियों को भी कोसल की ओर बढ़ने का साहस न हुआ। बहुत संभव है इसी से राजधानी का नाम अयोध्या पड़ा हो। अंततोगत्वा 'भारत युद्ध'[1] ऐसा सर्वनाशी हुआ कि भारत की समृद्धि, ज्ञान, सभ्यता आदि सब के सहित समग्र देश तिमिराच्छन्न हो गया। सूर्यवंश थोड़े समय के लिये अस्तप्राय हो गया। जब महापद्मनंद के काल में या उसके कुछ पूर्व क्रांति हुई तब कोसल मगध राज्य के अधीन हो गया था। महाभारत काल में भी कोसल राज्य ने अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के योग्य कोई महत्वपूर्ण भाग न लिया, जिसका कारण कदाचित् यही संभव है कि जरासंध के आतंक से वह दब गया हो।

प्राचीन भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ बेंटली महोदय ने ग्रहमंजरी की गणना के उपरांत सूर्यवंश का आरंभ ई० पू० २२०४ में माना है। मनु मानव जाति के जन्मदाता माने जाते हैं। पुराणों की वंशावलियाँ सभी पुराणों में उल्लिखित हैं। मनु ही सूर्य एवं चंद्र वंश के मूलपुरुष अथवा जन्मदाता थे। उनकी पुत्री इला थी, जिससे पुरूरवा ऐल का जन्म हुआ, जिसने प्रतिष्ठान (प्रयाग के निकट स्थित झूसी) को अपनी राजधानी बना कर राज्य किया। मनु के नौ पुत्र थे, जिनमें इक्ष्वाकु ज्येष्ठ थे।[2] इक्ष्वाकु ने मध्यदेश में अयोध्या को राजधानी बना कर राज्य किया।[3] पुराणों के अनुसार इक्ष्वाकु के सहस्र पुत्र थे, जिनमें विकुक्षि ज्येष्ठ था और निमि तथा दंड, प्रसिद्धिप्राप्त। विकुक्षि का नाम शशाद भी था। इसी ने अयोध्या राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था। विकुक्षि का पुत्र पुरंजय हुआ जिसने 'ककुत्स्थ' विरुद धारण किया।

युवनाश्व का पुत्र श्रावस्त ककुत्स्थ की छठी पीढ़ी पर था। इसी ने श्रावस्ती की नींव डाली[4] जो बाद में उत्तर कोसल की राजधानी बनी। श्रावस्त के पौत्र कुवलयाश्व को धुधु नामक असुर का संहार करने का श्रेय प्राप्त है।

महाभारत[5] और पुराणों[6] में वर्णित गाथा के अनुसार ऋषि उत्तंक ने श्रावस्त के पुत्र तत्कालीन राजा बृहदश्व से असंतोष प्रकट किया कि पश्चिमी समुद्रतट के रेत

१. श्री पुशालकर के अनुसार भारत युद्ध ई० पू० १४०० के लगभग हुआ—वैदिक एज, पृ० ३००।
२. पार्जिटर, एंश्यंट हिस्टारिकल ट्रैडीशन, पृ० ८४, टिप्पणी २।
३. ब्रह्मांडपुराण ३, ६३. २१।
४. वायुपुराण ८८, २७, विष्णुपुराण, ४,२,१२; वनपर्व २०१
५. वनपर्व, प्रकरण २०१, २०३।
६. मत्स्यपुराण १२, ३१।

में अवस्थित उसकी पर्णकुटी में धुंधु नामक असुर बाधा डालता है और पृथ्वी के अंदर ही अंदर (अंतर्भूमिगतः) से कष्ट पहुँचाता है।[1] वृद्ध राजा बृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलयाश्व को उसका संहार करने के हेतु भेजा। राजकुमार ने २१,००० सैनिकों (जो राजा के पुत्र थे) सहित उक्त स्थान पर जाकर चारो ओर उत्खनन् करवा कर उसे नष्ट करा दिया।[2] सूत्रों से विदित होता है कि धुंधु ने राजा कुवलयाश्व के २१,००० पुत्रों को नष्ट कर डाला। इसके उपरांत धुधु के शरीर से जो जल की धाराएँ निकलीं, उससे अग्नि शात हो गई। राजा कुवलयाश्व ने विजय प्राप्त कर धुंधुमार का विरुद धारण किया।[3]

कुवलयाश्व की कुछ पीढ़ियों के बाद माधाता नामक एक बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसने सात भागों (द्वीपों) सहित संपूर्ण पृथ्वी पर राज्य किया और चक्रवर्ती सम्राट बना।[4] माधाता के राज्य मे कभी सूर्य अस्त नहीं होता था।[5] भागवतपुराण के अनुसार माधाता ने दस्युओ का संहार करके 'त्रसदस्यु' का विरुद धारण किया था।[6] मांधाता ने अपनी पुत्री का विवाह सौवरि ऋषि से और पुत्र पुरुकुत्स का विवाह नगों की पुत्री से किया था।[7]

कोसल राजाओं की अनेक पीढ़ियों के पश्चात् राजा त्रय्यारुण ने सत्यव्रत नामक राजकुमार को जन्म दिया। वंशपुरोहित वशिष्ठ के आग्रह पर उक्त नाम मे दोष होने के कारण उसका नामकरण त्रिशंकु किया गया। त्रिशकु का पुत्र हरिश्चंद्र कोसल के राजाओं मे अत्यंत प्रतिभाशाली एव एकराट् सम्राट् हुआ। उसने राजसूय यज्ञ किया।[8] ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित शुनःशेप की कथा का मूल ऋग्वेद के प्रथम मडल मे है जिसके अनुसार हरिश्चद्र ने पुत्राकाक्षा से असुर वरुण से प्रार्थना की कि उसके पुत्र हो तो वह वरुण को प्रथम पुत्र की बलि प्रदान करेगा। हरिश्चंद्र यह बलि बराबर टालता रहा और जब वह उद्यत होता है तो पुत्र रोहित भाग जाता है। बलि के निमित्त

१. एंश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ४३।
३. वायुपुराण, ८८, २८।
४. विष्णुपुराण ४,२,६३; वायुपुराण, ८८,६८।
५. विष्णुपुराण, ४,२,६५।
६. एश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ४४।
७. वही।
८. वायुपुराण, ८८, ११८।

वह अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप की प्रतीकात्मक बलि का आयोजन करता है किंतु पुरोहित विश्वामित्र के हस्तक्षेप के कारण शुनःशेप की बलि नहीं दी जाती और वरुण से प्रार्थना की जाती है कि उसे बंधनमुक्त कर दें।[1] यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि ऋग्वैदिक राजा हरिश्चंद्र की कथा ऐतरेय ब्राह्मण में पुनः दुहराई गई है। यही नहीं, हरिश्चंद्र को कोसल के शासकों की तालिका में भी स्थान दिया गया है जब कि ऋग्वैदिक भारत की सीमाएँ सरस्वती नदी द्वारा अंतिम रूप से निश्चित होती थीं। ऐसी अवस्था में कहना कठिन है कि ऋग्वैदिक हरिश्चंद्र और कोसल के शासक हरिश्चंद्र का कालनिर्णय और अयोध्या के शासक के रूप में उसकी स्थिति कैसे सिद्ध की जाय।

महाभारत[2] में भी कोसल के राजा हरिश्चंद्र का उल्लेख एक शक्तिशाली सम्राट् के रूप में हुआ है। इंद्र की सभा में केवल राजर्षि हरिश्चंद्र को ही भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। राजा ने राजसूय यज्ञ में अतुल धनराशि का दान कर अपनी कीर्ति बढ़ाई थी। यज्ञ में पृथ्वी के अनेक शक्तिशाली सम्राटों ने भाग लिया था। अनुशासन पर्व[3] में राजा की दानशीलता का ज्वलंत उदाहरण है और इसी सूत्र में उनके त्याग[4] एवं पौरुष का वर्णन है जिसमें शुनःशेप का भी चित्रण हुआ है।[5]

हरिश्चंद्र के पश्चात् अनेक पीढ़ियों के उपरांत वाहु कोसल का राजा हुआ। राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। वाहु अपने शत्रुओं — हैहय, तालजंघ एवं अन्य क्षत्रिय जातियों से परास्त हुआ और सिंहासनच्युत कर दिया गया। वन में उसकी मृत्यु के ठीक पश्चात् उसकी पत्नी को पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका पालन पोषण निकटस्थ ऋषि अउर्व की कुटी में हुआ, जहाँ राजा ने भाग कर आश्रय लिया था।[6] ऋषि अउर्व ने राजकुमार को अश्वारोहण और आग्नेयास्त्र आदि की विशेष शिक्षा दी। बाह्य जातियों ने हैहयों से मिल कर अयोध्या में केंद्र बना लिया था।[7] ये क्षत्रिय

१. ऐतरेय० १, १४, १२–१३; विल्सन, ऋग्वेद, भा० १, पृ० ६०; म्योर, ओरिएंटल स्टडीज टेक्स्ट्स, १, ३५५, ४०७, ४१३; मैक्समूलर, एम० एस० लिटरेचर, पृ० ४०८।

२. महाभारत, २, १२, एंश्यंट इंडियन ट्राइब्स।

३. वही, १३, ६५ पृ० ८ (प्रतापचंद्र राय संस्करण)

४. वही, १२, २०, पृ० १४ (सुकथंकर संस्करण)।

५. वही, १३, ३, पृ० ११ (प्रतापचंद्र राय संस्करण)।

६. एंश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० २६।

७. वेदिक एज, पृ० २८३।

कहलाते थे। ये लोग ब्राह्मणों का समुचित आदर करते थे, वैदिक यज्ञादि एवं क्रिया-कलाप संपन्न करते थे तथा इन्होंने वशिष्ठ को ही अपना पुरोहित बनाया था। जब तक सगर बालक रहा ये लोग २० वर्ष अयोध्या को अधिकृत किए रहे। परंतु जब सगर ने युवावस्था प्राप्त की, फिर से कोसल राज्य का मस्तक ऊँचा कर दिया तब कोसल भारत के शक्तिशाली राज्यों मे गिना जाने लगा। उसने कोसल राज्य से हैहयों को निकाल बाहर किया और भारत के सीमांत प्रदेशों मे बसी हुई विदेशी जातियों (शक, यवन कंबोज आदि) को अधीन किया।[1]

सगर की मृत्यु के उपरात अयोध्या की शक्ति विच्छिन्न सी हो गई परतु उसके पौत्र अशुमत् ने सगर का उत्तराधिकारी बन कर अयोध्या को पुनर्जीवित कर दिया। उसके द्वितीय उत्तराधिकारी भगीरथ के तत्वावधान मे कोसल का पुनरुत्थान हुआ। भगीरथ की गणना सोलह प्रसिद्धिप्राप्त राजाओं मे की जाती है। महाभारत[2] मे उसे चक्रवर्ती सम्राट् कहा गया है। यह राजा शिव का परम भक्त था। उसने पवित्र नदी गगा को कठोर तप एव तपस्या के बल से स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित कराया। इसी लिये गगा का नाम भागीरथी पड़ा। इस प्रकार उसने अपने पूवजों को कपिल के शाप से मुक्त करा दिया। रामायण एवं महाभारत दोनों मे उसका विस्तृत विवरण है। भगीरथ को ही सर्वप्रथम गगा की पूजा करने का श्रेय है।

कोसल साम्राज्य मे भगीरथ की अनेक पीढ़ियों के पश्चात् ऋतुपर्ण अयोध्या का राजा हुआ। वह विदर्भराज नल का समकालीन था। विदर्भराज को उसने अक्षहृदय आदि गुप्त कलाओं के खेल सिखाए थे और स्वय उनसे अश्वारोहण सीखा था। महाभारत मे दोनों की मैत्री का विशद वर्णन है कि किस प्रकार राजा नल राजा ऋतुपर्ण के सारथी बने और तत्पश्चात् उन्हे राजधानी अयोध्या कुडिनपुर ले गए।[3] ऋतुपर्ण का पुत्र सुदास था जिसकी पहचान कुछ विद्वानों ने वैदिककालीन दाशराज के सुदास से की है।[4] सुदास के उपरात उसका पुत्र मित्रसह सौदास, कल्माषपाद के नाम से प्रसिद्ध

१. वही, पृ० २८६–७।

२. महाभारत ३, १०८ (प्रतापचंद्र राय संस्करण, पृ० २३६)।

३. महाभारत ३, ७१ और आगे; नलोपाख्यानपर्व, पृ० ४४ और आगे (प्रतापचंद्र राय संस्करण)।

४. वेदिक एज पृ० २८६। परंतु केवल नाम के सामंजस्य पर अन्य प्रमाण के अभाव में यह मानना उचित नहीं — लेखक।

हुआ। पुराण[1] एवं अन्य सूत्रों[2] में कल्माषपाद का उल्लेख उपलब्ध है। राजा के विषय में एक उल्लेखनीय बात है कि वशिष्ठ के शाप का भाजन बन कर उसे बारह वर्ष तक राक्षस रहना पड़ा। शाप के परिणाम से कल्माषपाद संतानहीन था। अतः उसने अपनी पत्नी से पुत्र की आकांक्षा से वशिष्ठ से नियोग कराया, जिससे अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी ने पौदन्य नगर की नींव डाली।[3] अश्मक के मूलक नामक पुत्र हुआ जो बाद को नारीकवच नाम से विख्यात हुआ क्योंकि परशुराम के भय से उसने स्त्रियों की शरण ली थी।

परशुराम के क्षत्रियसंहार के उपरांत मूलक की चौथी पीढ़ी के पश्चात् कोसल के राजवंश में पौराणिक सूत्र के आधार पर हम सम्राट् खट्वांग को पाते हैं। वह अतुल बलशाली सम्राट् था। देवताओं और असुरों के युद्ध में उसने देवताओं की सहायता की थी।[4] भागवतपुराण[5] के अनुसार खट्वांग ने अपना शेष लघु जीवन तपस्या के द्वारा मोक्षप्राप्ति में लगाया। खट्वांग के पौत्र रघु हुए। उनके प्रताप से ही वंश का नाम रघुवंश पड़ा। रघु के दशरथ हुए।

दशरथ के काल में कोसल की पूर्वी सीमा विदेह, वैशाली और अंग से घिरी हुई थी, दक्षिण में सीमा वत्स राज्य तक विस्तृत थी, पश्चिम में कोसल राज्य उत्तर और दक्षिण पांचाल के पौरव प्रदेश तक विस्तृत था। दशरथ ने वशिष्ठ की अनुमति से ऋष्यशृंग की संरक्षकता में 'पुत्रकामेष्टि' यज्ञ किया था, जिसके फलस्वरूप राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। राम एवं लक्ष्मण ने विश्वामित्र के तत्वावधान में विभिन्न क्रियाएँ सीखी थीं जिनकी सहायता एवं प्रयोग से उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ में शांति स्थापित की थी। विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को मिथिला

१. पुराण इंडेक्स; एंश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ४८।

२. महाभारत (क्रि० संस्करण) १, १६६–७३ दूसरा ब्यौरा प्रस्तुत करता है। द्रष्टव्य दि हिस्ट्री ऐंड कल्चर आव् इंडियन पीपुल, भाग १, पृ० २८६।

३. पौदन्य (पोतन इन महा०, क्रि० एडी०, १, १६८–२४) इज द पोतन आर पोतलि आव् द जातकज (रायचौधुरी, पी० एच० ए०, आई०, पृ० १२१), इट हैज बीन आइडेंटीफाइड विथ पैठन आर प्रतिष्ठान आन द नार्थ बैंक आव् द गोदावरी, २८ माइल्स टु द साउथ आव् औरंगाबाद दे, जी० डी०, पृ० १२७। तुल० द वेदिक एज, पृ० २०६।

४. विष्णुपुराण, ४,१६; ऐंश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ४६।

५. भागवतपुराण ६, ६, ४१ तथा आगे; वही, ६,६,१०।

में ले आकर राम का सीता से विवाह कराया था आदि आदि।[1] राम के काल में कोसल राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था और राम के काल को स्वर्णयुग भी कहा गया है।[2] राम के बाद कोसल का विस्तृत साम्राज्य चारो भाइयों के पुत्रों में विभक्त हो गया। शत्रुघ्न का पुत्र मथुरा का शासक बना जिसकी स्थापना स्वयं शत्रुघ्न ने राक्षसों का संहार कर की थी। लक्ष्मण के पुत्रों ने अपना राज्य सुदूर उत्तर हिमालय के संनिकट स्थापित किया।[3] भरत के पुत्रों ने गाधार देश में तक्षशिला तथा पुष्करावती नामक नगरों की नीव डाली।[4] कोसल राज्यविशेष दो भागों में विभक्त हो गया। ज्येष्ठ पुत्र कुश दक्षिण कोसल का राजा बना। उसने अपनी राजधानी कुशस्थली बनाई जो विंध्याचल के चरणों मे स्थित थी।[5] कुश का लघु भ्राता लव उत्तर कोसल का राजा बना। उसने अपनी राजधानी शरावती अथवा श्रावस्ती बनाई, जो बुद्ध के काल तक कोसल की राजधानी रही।[6]

इक्ष्वाकु की पीढ़ी मे कुश के पश्चात् कोसल के सम्राटों में हिरण्यनाभ कौशल्य का नाम आता है जो जैमिनि ऋषि का शिष्य था। इन्हीं के गुरुत्व में हिरण्यनाभ ने योगविद्या सीखी थी और आगे अपना ज्ञान याज्ञवल्य को दिया था।[7] पुराणों के अनुसार योगशास्त्र की विशेष योग्यता हिरण्यनाभ के पुत्र ने अपने पिता से प्राप्त की थी। वायुपुराण उसे वशिष्ठ[8] और विष्णुपुराण उसे पुष्य[9] कहते हैं। इसके उपरांत पाचवीं पीढ़ी का राजा मरु अथवा मनु माना जाता है।[10] अनेक पीढ़ियों के पश्चात् बृहद्बल हुआ, वह कोसल की सेना लेकर कुरुक्षेत्र के समरांगण मे उतरा था, जहाँ वह अभिमन्यु द्वारा मारा गया।

बहुत से पुराण कोसल के राजाओं की गणना बृहद्बल तक ही करते हैं, परंतु भागवतपुराण कुछ अन्य नाम भी जोड़ता है जो इक्ष्वाकु वश के भावी राजा

१. दि हिस्ट्री ऐंड कल्चर आव् इंडियन पीपुल, भाग १, पृ० २८१।
२. वही।
३. ऐश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ४६।
४. वायुपुराण, ८८, १८६–१६०।
५. वही, ८८, १६८।
६. एश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ५०।
७. भागवतपुराण, ६,१२।
८. वायुपुराण, ८८, २०७–८।
६. विष्णुपुराण, ४,४,४८।
१०. ऐश्यंट इंडियन ट्राइब्स, पृ० ५०।

कहलाते हैं। भागवतपुराण[1] के अनुसार इक्ष्वाकु वंश का अंतिम राजा सुमित्र था। उसके अनुसार यहीं कलियुग का आरंभ होगा और यहीं से वंश की समाप्ति।[2]

परवर्ती कोसल का इतिहास जैन एवं बौद्ध साहित्य से ही ज्ञातव्य है। कल्पसूत्र[3] से ज्ञातव्य है कि महावीर की मृत्यु पर काशी और कोसल सहित १८ राजाओं के संघ, ९ मल्लकी राजाओं और ९ लिच्छवि राजाओं ने प्रतिपदा के दिन दीप आदि जलाकर व्रत आदि का उत्सव मनाया था। प्रो० जैकोबी के मत से जैन सूत्र के अनुसार काशी तथा कोसल लिच्छवियों और मल्लकियों के अधीन थे। इन्होंने ऐक्ष्वाकों से उत्तराधिकार प्राप्त किया था, जिन्होंने रामायणकालीन कोसल पर राज्य किया था।[4]

पालि बौद्ध साहित्य में कोसल का बौद्धकालीन इतिहास भरा पड़ा है, जिसका बुद्धकालीन भारत में विशेष महत्व था।

बौद्धकालीन कोसल का महत्व

एकोसक नाम की उत्पत्ति के विषय में पालि साहित्यकार बुद्धघोष ने बहुत ही सुंदर ढंग से एक उपाख्यान प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार कोसल देश को कोसल राजाओं ने बसाया इसलिये देश कोसल कहलाया। प्राचीनकाल में कोसल देश में महापनाद नामक राजकुमार था। वह बहुत ही गंभीर रहता था, यहाँ तक कि कभी मुस्कराता भी न था। राजा ने उसे हँसाने के लिये अनेक उपाय किए। अततोगत्वा यह घोषणा की कि जो व्यक्ति राजकुमार को हँसाने में सफल होगा उसे पारितोषिक दिया जायगा। राज्य के प्रजाजन पारितोषिक पाने की आकांक्षा से राजधानी में जाकर राजकुमार के मुखमंडल पर हँसी लाने का प्रयत्न करने लगे परंतु कोई सफल न हुआ। अंत में इंद्र ने अपनी नाटकमंडली को राजकुमार को हँसाने के लिये

१. भागवतपुराण, १२,१६।

२. इन पुराणों की सूची में विचित्रता यह है कि इसमें भावी राजाओं में शुद्धोदन और राहुल का भी नाम है।
मत्स्यपुराण (प्रकरण १२) की राजाओं के नामों की सूची अपेक्षाकृत (कुश से लेकर भारत युद्ध तक) लघु है। इसमें बृहद्बल के स्थान पर श्रुतय का नाम आया है।

३. कल्पसूत्र, १२८, एस० बी० ई०, भाग २२, पृ० २६६।

४. जैन सूत्राज, भाग २, पृ० ३२, टिप्पणी ३।

भेजा और वह सफल हुई। जब राजा को हँसानेवाले अपने अपने घर लौटने लगे तब उनके मित्र एवं संबंधी मार्ग मे उनको देखकर पूछने लगे 'कच्चि भो कुसलम्, कच्चि भो कुसलम्' अर्थात् सब ठीक है ? इस प्रकार कुसलम् शब्द से ही देश का नाम 'कोसल' पड़ा।[1]

बुद्ध के काल मे भारतवर्ष तीन मंडलों, पाँच प्रदेशों एवं सोलह जनपदों में विभक्त था। महामडल, मध्यमंडल तथा अतर्मडल—ये तीन मंडल थे। मध्यदेश, उत्तरापथ, अपरातक, दक्षिणापथ तथा प्राच्य नामक पाँच प्रदेश थे। मध्यदेश सोलह महाजनपदों में विभक्त था।[2] कोसल इन्हीं महाजनपदों मे एक था। भगवान् बुद्ध ने सपूर्ण मध्यदेश में भ्रमण करके बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था।[3] बौद्ध सूत्र के अनुसार मध्यदेश की सीमा इस प्रकार थी — पूर्व दिशा मे कजंगल नामक निगम (कसबा) था, पूर्वदक्षिण दिशा मे सलिलवती नदी थी, दक्षिण दिशा मे सेत कण्णिक नामक निगम था, पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम था और उत्तर मे उसीरद्धज नामक पर्वत था।

बौद्ध काल मे कोसल एक प्रभावशाली राज्य था जो दो भागों में विभक्त था — उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। सरयू नदी दोनों के बीच में थी।[4] श्रावस्ती उस समय काशी (आजकल के वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुर के अधिकाश भाग) और कोसल (वर्तमान अवध) के दो बड़े और समृद्धिशाली प्रदेशों की राजधानी होने से महत्वपूर्ण थी। उस समय कोसल की सीमाएँ पूर्व मे सदानीरा (गंडक) नदी, पश्चिम मे पचाल, दक्षिण मे सर्पिका अथवा स्यन्दिका (सई) नदी और उत्तर मे नैपाल की पहाड़ियाँ थीं।

बुद्ध ने अपने जीवन का अधिकांश भाग कोसल की राजधानी श्रावस्ती मे ही बिताया और विनय के नियमों का कोसल मे ही संकलन हुआ।[5] बुद्ध के काल में श्रावस्ती अपने वैभव की चरम सीमा पर थी। बुद्ध के पूर्व कोसल राज्य का इतिहास केवल छोटे छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों की गाथा है। बौद्ध काल मे उन शक्तियों

१. सुमंगलविलासिनी १, २३९।
२. अंगुत्तर निकाय, ४, २, ५२; २५६, २६० और १, २१३; महावस्तु १, ३४ २, ३; विनय २, १४६; निद्देस २, ३७।
३. विनयमहावग्ग, पृ० १९७ (पी० टी० एस०)।
४. ला, जियाग्रफी, पृ० ६।
५. विनय इंडेक्स, द्रष्टव्य मलालसेखर १, ६६५।

का पतन एवं नई शक्ति का उद्भव हुआ। जैन सूत्र के अनुसार इसके अंतिम राजा ने जितशत्रु (शत्रुओं का सहारकर्ता) विरुद धारण किया था और बौद्ध परंपरा में उसे राजा पसेनदि कोसल (प्रसेनजित कौशल्य) कहा गया है।[१] पुराणों में भी प्रसेनजित का वर्णन आया है।[२]

अपने शासन की प्रारंभिक अवस्था[३] मे ही पसेनदि बुद्ध का अनुयायी और मित्र हो गया और जीवनपर्यंत यह सबध दृढ़ रहा। पसेनदि का बुद्ध से इतना संपर्क बढ़ गया था कि वह बुद्ध के पास बहुधा जाकर विभिन्न शकाओं का समाधान करता था।[४] सपूर्ण तृतीय सयुक्त (कोसल सयुक्त) दोनों के वार्तालाप का सजीव उदाहरण है। बुद्ध और पसेनदि समवयस्क थे अतः बातचीत भी खुलकर और घनिष्ठ होती थी।[५]

बौद्ध सूत्र[६] के अनुसार जब भगवान् बुद्ध सावत्थी में मिगारमाता के पुब्बाराम प्रासाद मे विहार करते थे, उस समय पसेनदि पाँच राजाओं सहित बुद्ध से मिलने के लिये गया था। पसेनदि उन पाँचो मे प्रमुख था। उसके अतिरिक्त चार आधीनस्थ राजा कौन थे, इसका पता अभी नहीं चल सका है। एक अधीनस्थ राजा के विषय में तो कहा जा सकता है कि वह काशी का राजा रहा होगा क्योंकि उस समय काशी राज्य कोसल के अंतर्गत आ चुका था।[७] तीन शेष राजाओं के विषय मे ला महोदय का अनुमान है कि वे उवासगदसाओ मे वर्णित राजा रहे होगे जिनका स्वामी बनने पर उसे जितशत्रु की उपाधि मिली थी। वे थे आलभी, उत्तर - पचाल का कपिल्लपुर और पोलासपुर।[८] इसके अतिरिक्त रायचौधरी का अनुमान है कि उन शक्तियों (अधीनस्थ राजाओं) में कल्पसूत्र में वर्णित नौ लिच्छवि, नौ मल्ल और कासी - कोसल का ही सगठन था।[९]

वत्थुगाथासहित पारायण वग्ग के अंतर्गत चुल्लनिद्देस और सुत्तनिपात में प्रमुख एव प्राथमिक पालिसूत्र उपलब्ध है। निश्चय ही यह कोसल की अद्भुत गाथा

१. ला, श्रावस्ती इन इडियन लिटरेचर, पृ० १२।
२. पुरानिक इडेक्स।
३. राकहिल, लाइफ आव् बुद्ध, पृ० ४१।
४. पाली के नामों का कोश, पृ० १६६।
५. वही।
६. संयुत्तनिकाय, १, ८०।
७. मज्झिमनिकाय, २, ३।
८. श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर, पृ० १२।
९. रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० ८७।

है। इसमें बावरी और उसके सोलह अनुयायियों[1] का विस्तृत वर्णन है। बावरी पसेनदि के वंश का पुजारी और पसेनदि का बाल्यावस्था का शिक्षक[2] तथा वैदिक साहित्य का विद्वान् था। अपने जीवन के अंतिम दिन उसने गोदावरी[3] के अंतरद्वीप में बिताए थे। वहीं उसकी कुटी अस्सक राज्य के अंतर्गत थी और उसके पड़ोस में गोदावरी के किनारे मुलक या अलक नामक राज्य था। और जहाँ दो झीलों द्वारा नदी विभक्त होती थी वहीं सरभग तथा अन्य साधु रहते थे।[4] बावरी ने कोसल की सुंदर राजधानी सावत्थी का भ्रमण भी किया था।[5] वहीं से उसने अपने १६ अनुयायी बुद्ध के पास भेजे थे।[6] जो सावत्थी जाकर बुद्ध के अनुयायी हो गए। इनके अतिरिक्त उसके पास १६,००० शिष्य रहते थे। इस समय बावरी की अवस्था एक सौ वर्ष की थी। बावरी उसके गोत्र का नाम था। उसके शरीर में महापुरुष होने के तीन लक्षण थे।[7]

पालि ग्रंथों के कुछ ब्राह्मण ग्रामों का विशेष महत्व था यथा एकसाला, इच्छानगल, नगरविंद, मनसाकट, वेनागपुर, दंडकप्पक और वेलुद्वार। एकसाला नामक ब्राह्मण ग्राम में बुद्ध एक बार रुके थे। यहीं पर जब बुद्ध अपने अनुयायियों को शिक्षा दे रहे थे, मार के बाधा डालने पर उन्होंने उसे पराजित किया था।[8] इच्छानंगल नामक दूसरा ब्राह्मण ग्राम था। यहाँ भगवान् बुद्ध जब वनसड में ठहरे हुए थे, अंबट्ठसुत्त[9] का उपदेश किया था। इसी सुत्त से अवगत होता है कि यह ग्राम पोक्खरसाति के ग्राम उक्कट्ठा के निकट था। इच्छानगल महासाल ब्राह्मण का निवासस्थान था। सुत्तनिपात में इसे इच्छानकल कहा गया है। बौद्धसूत्र[10] में यहाँ के विभिन्न ब्राह्मण चंकि, तारुक्ख, पोक्खरसाति, जाणुस्सोणि, भरद्वाज आदि का उल्लेख हुआ है जो यहाँ समय समय पर बुद्ध से वादविवाद किया करते थे, जो वासेत्थ सुत्त में[11] सुरक्षित है। बुद्ध घोष के अनुसार वैदिक साहित्य के विद्वान् ब्राह्मण

१. पाली के नामों का कोश, पृ० २७६।
२. सुत्तनिपात टीका, पृ० ५८०।
३. सुत्तनिपात, पृ० ११०।
४. परमत्थजोतिका, पृ० ५८१।
५. सुत्तनिपात, पृ० १०।
६. सुत्तनिपात टीका, पृ० ५८०।
७. सुत्तनिपात श्लोक, १०१६।
८. संयुत्तनिकाय १,१११।
९. अंबट्ठसुत्त, दीघनिकाय, १८७।
१०. सुत्तनिपात, पृ० ११५।
११. वासेट्ठ सुत्त, सुत्तनिपात, पृ० ११५।

समय समय पर इच्छानंगल में एकत्र होकर वादविवाद किया करते थे।[1] तीसरा ग्राम नगरविंद था जो कोसल के अंतर्गत ब्राह्मण ग्राम था। बुद्ध चर्या करते हुए यहाँ एक बार ठहरे थे और ब्राह्मणों को नगरविंदेय्य सुत्त का प्रवचन किया था।[2] मनसाकट नामक चौथा ब्राह्मण ग्राम था। यह अचिरवती के कूल पर स्थित अत्यंत सुंदर स्थान था। यहाँ भी समय समय पर ब्राह्मण लोग एकत्र होकर शांत-चित्त हो मंत्रों के पाठ के लिये आते थे।[3] गाँव के उत्तर की ओर बुद्ध ने आम्रवाटिका में तेविज्ज सुत्त[4] का प्रवचन किया था। मनसाकट में विशिष्ट एवं संपन्न (महासाल) ब्राह्मण निवास करते थे, जिनमें से तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[5] ये ब्राह्मण यज्ञ करने में बहुत धन व्यय किया करते थे। जानुस्सोणि श्वेत सज्जा और रश्मियों वाली चार श्वेत वामियों द्वारा खींचे जानेवाले छत्रसहित श्वेत रथ पर आरूढ़ होकर चला करता था। वह स्वयं श्वेत पगड़ी, श्वेत वस्त्र और श्वेत पदत्राण धारण करता था और उसे श्वेत चँवर (वालबीजम्) डुलाया जाता था। इस वेष में वह श्वेत रथ (ब्राह्मयान) पर आसीन ब्राह्मण के सदृश प्रतीत होता था। ब्राह्मणों का पाँचवाँ ग्राम वेनागपुर कोसल की राज्यसीमा के अंतर्गत था। यहाँ पर बुद्ध ने वेनागसुत्त का पाठ किया था।[6] दंडकप्प ब्राह्मणों का छठा ग्राम था। यह अचिरवती के निकट स्थित था। कोसल में भ्रमण करते समय यहाँ भी बुद्ध ने आगमन किया था और आनंद के प्रश्न करने पर उदानसुत्त का प्रवचन किया था।[7] देवदत्त के विषय में भी यहीं बुद्ध को पता चला था।[8] वेलुद्वार सातवाँ ग्राम था। यह ग्राम भी कोसल की सीमा के अंतर्गत था और यहाँ पर बुद्ध ने वेलुद्वारेय्य सुत्त का प्रवचन किया था।

कोसल राज्य सावत्थी और उसके आसपास बौद्ध धर्म का शक्तिशाली केंद्र था पर उसे केवल इस बात पर ही गर्व नहीं है। राज्य में अन्य भी गर्व करने योग्य

१. सुत्तनिपात टीका २,४६२ और पंपचसूदनी मज्झिम टीका (अलुविहार सीरीज, कोलंबो।) २,७६६।

२. मज्झिमनिकाय ३,२६० और आगे।

३. सुमंगलविलासिनी, २, ३९९।

४. दीघनिकाय, १,२३५।

५. वही।

६. अंगुत्तरनिकाय १,१८०; वेनागुसत्त।

७. अंगुत्तरनिकाय ३,४०२।

८. वही।

एवं महत्वपूर्ण स्थान थे। उदाहरणार्थ, साकेत, उजुञ्जा, आलवी, वसभगाम और कीटागिरि। इसीपतन (सारनाथ) का मृगदाव नामक स्थान भी कोसल के राज्य में संमिलित था। काशी क्षेत्र का कीटागिरि कोसल राज्य मे संमिलित था।[1] कोसल का भगवान् बुद्ध के जीवन और उनकी शिक्षाओं से इतना संपर्क था कि पसेनदि ने इसे अनुभव करके सिद्ध करते हुए कहा था कि जिस प्रकार मैं कोसल का हूँ उसी प्रकार बुद्ध भी कोसल के हैं। इसके अतिरिक्त अन्य समानताएँ भी दिखलाई थीं।[2]

बौद्धकाल मे धार्मिक महत्व के अतिरिक्त कोसल का राजनीतिक महत्व भी था। जैन साहित्य के भगवती और निरयावली सूत्रों मे बिंबिसार के पुत्र एवं उत्तराधिकारी कुणीक अजातशत्रु को अंग का शासक (वाइसराय) माना है। यह संभवतः इसलिये कि उसने वैशाली के वृजि लिच्छवियों से झगड़ा किया था।[3] इस झगड़े के कारण हमे बौद्ध सूत्र[4] मे उपलब्ध होते हैं। कथा इस प्रकार है। गंगा नदी का एक बंदरगाह एक योजन बढ़ गया था जिसका आधा भूभाग अजातशत्रु की राज्यसीमा के अंतर्गत आता था और शेष आधा लिच्छवियों की। इसी सीमा के विवाद को लेकर झगड़ा बढ गया। अजातशत्रु और लिच्छवियों मे युद्ध छिड़ गया। अजात शत्रु को शक्तिशाली एवं सगठित वजियों पर विजय न मिल सकी। अतः उसने वस्सकार[5] की सहायता से वजियों मे फूट डाली। अजातशत्रु को बड़े नाटकीय ढग से वैशाली लाया गया।[6] फूट पड़ने से वजियों की शक्ति नष्ट हो गई। बौद्ध गाथाओं मे निःसदेहात्मक रूप से पिता बिंबिसार की मृत्यु के उपरात अजातशत्रु को मगध राज्य का एकछत्र सम्राट् माना गया है। जैन सूत्र के अनुसार वैशाली के लिच्छवियों ने बिंबिसार के कनिष्ठ पुत्र वेहल्ल को अपना राजा मानकर अजातशत्रु के स्थान पर उसे मगध के सिंहासन पर बिठाना चाहा। सभवतः बिंबिसार की भी यही इच्छा थी। कोसलराज पसेनदि को भी अजातशत्रु का मगध के सिंहासन पर बिंबिसार का उत्तराधिकारी बनना पसंद न आया। इसलिये पसेनदि ने अजातशत्रु को काशी का भूमिकर लेने से वंचित कर दिया। परिणामस्वरूप कोसल और मगध मे युद्ध

१. मज्झिमनिकाय, २।१।१०, कीटागिरि सुत्त।
२. वही २, पृ० १२४।
३. ला, श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर, पृ० १६।
४. सुमंगलविलासिनी २,५२६, मनोरथपूरणी, अंगुत्तरटीका (एस० एच० बी०) १,७०५; उदान टीका (पी० टी० एस०) ४०८।
५. पाली के नामों का कोश, पृ० ८४६।
६. सुमंगलविलासिनी २,५२४।

आरंभ हो गया, जिसका सूक्ष्म उल्लेख 'कोसल संयुक्त' में उपलब्ध है।[1] विजयश्री कभी मगध की ओर कभी कोसल की ओर रही। अंततः अजातशत्रु पराजित हुआ परंतु पसेनदि ने अपनी कन्या वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और कासिग्राम[2] दहेज में दे दिया तब झगड़ा शांत हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि कासी की पृथक् सत्ता बराबर बनी रही, क्योंकि यद्यपि काशी और कोसल का उल्लेख प्रायः साथ ही साथ पाया जाता है तथापि पसेनदि को बराबर केवल कोसल का ही राजा कहा गया है। महावग्ग[3] में किसी कासिक राजा का उल्लेख है जो संभवतः कोसलनरेश के अधीन कोई सामंत था।[4]

इससे पता चलता है कि अजातशत्रु के उत्तराधिकार के विरोध में लिच्छवियों, मल्लों और कासी-कोसल के सम्राट् का आपस में एक संघ बन गया था। परंतु कासी-कोसल पर पसेनदि का प्रभुत्व और स्वतंत्र रूप में कोसल राज्य की प्रसिद्धि काफी समय तक न चल सकी। राजा का पतन होते ही राज्य का पतन हो गया। आनेवाली (अवश्यभावी) घटनाओं का आभास पसेनदि और मल्लिका देवी की बातों में ही हो जाता है और यह तथ्य हमें स्पष्ट रूप में पियजातिकसुत्त[5] में उपलब्ध है। उस वार्तालाप का सारांश यह है कि कोसल के अंतिम शक्तिशाली राजा को आनेवाली आपदाओं का भय था। कलिंगबोधिजातक[6] में राजा के इन विचारों का निरूपण है।

जब तक पसेनदि जीवित रहा कोसल की स्थिति स्वतंत्र रूप से दृढ़ रही। पालि सूत्रों से यह तथ्य प्रकट होता है कि पसेनदि और बुद्ध बराबर अवस्था के थे और दोनों का देहांत ८०वें वर्ष में हुआ। पसेनदि और बुद्ध का अंतिम मिलन नगरक में हुआ था।[7] इस मिलन की घटना का चित्रण भरहुत की शिलपट्टिका पर उत्कीर्ण है।[8] मिलन कराने के हेतु पसेनदि की रक्षा के लिये सेनापति दीर्घकारायण आया था। इधर पसेनदि राजसी वेशभूषा सेनापति के पास छोड़ कर बुद्ध के दर्शन

१. वही १, पृ० ८४ और आगे।
२. वही।
३. विनयपिटक, १,२८१।
४. संयुत्तनिकाय, १,७६।
५. मज्झिमनिकाय।
६. फउसबाल जातक, सं० ४७६।
७. मज्झिमनिकाय धम्म चेतीय, पंपच सूदनी मज्झि टीका (बिहार सीरीज, कोलंबो) २, ७४३ और फउसबालजातक, ४,४१ और आगे।
८. बरुआ, भरहुत - १, स्टोन ऐज ए स्टोरी टेलर, पृ० ५८।

के हेतु गया था उधर दीर्घकारायण ने स्वर्ण अवसर पाते ही भागकर राजधानी पहुँचकर वासभखत्तिया के पुत्र विड्डूडभ को सिंहासनारूढ़ किया। पसेनदि जब बाहर आया तो दीर्घकारण को न पाकर अजातशत्रु की सहायता पाने के हेतु राजगृह की ओर बढ़ा परतु नगरद्वार बंद हो चुके थे। यात्रा की थकान से रात्रि के समय नगर के बाहर ही उसका स्वर्गवास हो गया।

इस कथा के तथ्य पर स्मिथ महोदय ने संदेह प्रकट किया है।[1] पालि के कुछ विधिवत् ग्रंथों में भी हम इसके विपरीत कथा पाते हैं। उसमें वासभखत्तिया न कभी शाक्यराज महानाम की शूद्र कन्या के रूप मे आई है और न विड्डूडभ की माँ के रूप मे।[2] उसमें विड्डूडभ का उल्लेख दीर्घकारायण की भाँति एक विश्वासपात्र सेनापति के रूप मे हुआ है, पसेनदि के पुत्र के रूप मे नहीं।[3] बुद्ध के जीवनपर्यंत तो शाक्य संगठित रूप में रहे परतु जब बुद्ध का देहात कुशीनारा में हुआ तो उनकी अस्थियों के पीछे फूट पड़ गई और शक्ति विशृंखलित हो गई।[4] यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि अस्थि लेने के लिये न तो कोसल के राजा ने ही अपना दूत भेजा और न कोसल के किसी भी व्यक्ति ने उनपर अपना अधिकार प्रकट किया। इससे स्पष्ट है कि कोसल मे कुछ ऐसी आपदा आ पड़ी थी जिसके परिणाम के भय से कोसल अपने अधिकार से वचित हुआ। अततोगत्वा दो सेनापतियों ने आपस में मिलकर राजा को हटाया और विड्डूडभ को राजगद्दी पर बिठाया।[5] विद्रोही राजा विड्डूडभ ने अपने हृदय की ज्वाला शांत करने के लिये शाक्यों पर आक्रमण किया।[6] बुद्ध की मृत्यु के उपरात कोसल की शक्ति क्षीण होती गई, राज्य पतनोन्मुख हो गया और मगध का प्रभुत्व बढ़ने लगा। परतु बुद्ध की मृत्यु के उपरांत बुद्ध के उपलोम कोसल मे स्तूप (थूप) में सचित किये गए।[7] वर्णनों से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये मगध की अपेक्षा कोसल मे कहीं अधिक प्रयत्न हुए। यही कारण है कि कोसल का एक पत्थ मगध के चार पत्थों के समान था।[8]

*

१. दि अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ३८।
२. श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर, पृ० १८।
३. वही।
४. उदान टीका, ४२ और आगे; सुमंगलविलासिनी २,४७ और आगे।
५. पाली के नामों का कोश, पृ० ८७६।
६. वही।
७. बुद्धवंस (पी० टी० एस०) २८,६।
८. सुत्तनिपात टीका २, ४७६।

'ढोलामारू' के कतिपय संदेहास्पद स्थल : पुनर्विचार

मूलचंद्र 'प्राणेश'

•

'ढोलामारू रा दूहा' राजस्थान का एक बहुप्रचलित लोकगाथा काव्य है। रुचि-वैचित्र्य के कारण लोकगाथा काव्यों में बहुत कुछ परिवर्तन परिवर्धन संभव है। प्रस्तुत काव्य भी चिरकाल से श्रुतिपरंपरा द्वारा लोककंठ मे मुखरित रहा है अतः इसमे विभिन्न भाषाओं, भावों एवं संस्कृतियों का अद्‌भुत समिश्रण पाया जाता है। भाषा, भाव एवं संस्कृति से उदासीन रहकर केवल कोश के सहारे किसी भी देशी भाषा के शब्दों का अर्थ लगाना कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। 'ढोलामारू रा दूहा' के संपादकत्रय तथा संशोधक डा० माताप्रसाद गुप्त भी उक्त काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ करते समय स्थान स्थान पर भटके ही नहीं बल्कि वास्तविक अर्थ से कोसों दूर चले गए हैं।

यद्यपि सभी भारतीय आर्य भाषाओं का संबंध 'संस्कृत' से जोड़ा जाता है फिर भी आधुनिक भाषाओं में ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनका संबंध संस्कृत से नहीं जोड़ा जा सकता। विद्वानों ने इस प्रकार के शब्दों को 'देशज' माना है। कई महानुभाव देशज शब्दों का रूपसाम्य देखकर संस्कृत के साथ संभावित संगति बिठा देते हैं जिससे अर्थ का अनर्थ तो होता ही है साथ ही ऐसे संदेह भी उपस्थित हो जाते है जिनका निराकरण सहज नहीं।

शब्द में निहित शक्ति से ही अर्थबोध होता है। शब्द-शक्ति-ज्ञान के साधन व्याकरण, कोश, आप्त वाक्य एवं व्यवहार है। 'देशज' शब्दों का अर्थ करते समय अन्य साधनों के साथ साथ 'व्यवहार' पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रयोगादि सहित व्यवहार के द्वारा जो अर्थनिश्चय किया जाता है वह संशयरहित तथा प्रामाणिक माना गया है। प्रस्तुत निबंध मे 'ढोलामारू रा दूहा' के कतिपय संदेहास्पद स्थलों— जिनका उल्लेख डा० माताप्रसाद गुप्तने अपने लेख में किया है[1] — का उक्त व्याकरणादि साधनों के द्वारा अर्थविनिश्चय करने का प्रयास है। 'व्यवहार' की दृष्टि से तत्संबंधी उद्धरण भी यथास्थान संकलित कर दिए गए हैं। आशा है, राजस्थानी-भाषाप्रेमियों को इस प्रयत्न से यत्किंचित् लाभ होगा।

१. 'ढोलामारू रा दूहा में अर्थसंशोधन विषयक कुछ सुझाव' शीर्षक निबंध, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०१७, वर्ष ६५, अंक १।

१ – दूहा १०

ढोलउ मारू परणिया, 'वरदळ' हुवउ उछाह ।
आ पूगळची पदमिणी, अउ नरवरचउ नाह ॥

संपादकत्रय ने 'वरदळ' का अर्थ 'धूमधाम से' और कोष्ठक मे 'श्रेष्ठ कुल' किया है तथा यही अर्थ परिशिष्ट मे दिए गए कोश में भी दिया है। गुप्तजी ने इसका अर्थ 'बारात' अर्थात् वर+दल किया है। वास्तव में दोनों पक्ष 'वरदळ' शब्द की वास्तविकता से अपरिचित हैं। 'वरदळ' राजस्थान का साहित्य[1] तथा बोलचाल में आनेवाला बहुप्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग 'उपयुक्त' के अर्थ में किया जाता है। प्रस्तुत दोहे में भी इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दोहे का अर्थ होगा—

ढोला और मारू का परिणय हुआ (तब) उपयुक्त रूप से उत्सव हुआ। (क्योंकि) यह (मारू) पूगल की पद्मिनी है और वह (ढोला) नरवर का अधिपति।

२ – दूहा १२

जिम जिम मन अमले किअइ 'तार' चढंती जाइ ।
तिम तिम मारवणी तणइ, तन तरुणापउ थाइ ॥

सपादकत्रय ने 'तार चढती जाइ' का अर्थ 'ऊँचा चढ़ता जाता है' और गुप्त जी ने 'तारकमाला चढती जाती थी' किया है। 'तार चढना' राजस्थानी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है जिसका अर्थ 'नशे की लहर आना या चढ़ना' होता है। बोलचाल की भाषा मे भी इसका व्यवहार नशा, धन, पद, यौवन और बल आदि के 'मद'[2] की

१. क - अरपीयो उदक सु सुकित आपायणो ।
परण जो रुखमणी किसन 'वरदळ' पयो ॥
— सांया झूला - रुखमणीहरण (ह० लि०)।

ख - सरीखा खेड़ धरा खुरसांण, सरीखो राउ अने सुरताण ।
'वरदळ' वेदि वडे वीवाह, मिळी धण तुम्भ महारिख मांहि ॥
—राउ जैतसी रउ रासौ (ह० लि०)।

ग - दळपति कोई न दूजो 'वरदळि'
—राठौड़ रतनसिंह जी री वेलि १४ (ह० लि०)।

२. क - पातर प्रीत पतंग रंग, ताता 'मदरी तार'।
पहर पाछली ऊत धन, जात न लागै वार ॥—दोहासंग्रह।

ख - कूहूख 'तार' दुरंत वसंत।—प्राकृतपैंगलम्, १४६।

अवस्था में किया जाता है। यहाँ भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दोहे का अर्थ होगा—

ज्यों ज्यों मन के आधिपत्य से यौवन तरंगें बढ़ती जा रही है त्यों त्यों मारवणी के तन में यौवनावस्था प्रगट हो रही है।

३ – दूहा ३२

बाबहिया 'तर - पंखिया' तइँ किउँ दीन्ही सोर।
मइँ जाण्यउ पिउ आवियउ, ससहर चंद चकोर॥

संपादकत्रय ने 'तर' शब्द का अर्थ टीका में 'गहरे रंग' का तथा टिप्पणी में 'हरा' किया है। गुप्तजी 'तर' पाठ को गलत मान कर 'रत' होना मानते हैं। वस्तुतः पाठ 'तर' ही है और इसका अर्थ भी 'लाल'[1] ही होता है। दोहे का अर्थ होगा—

हे लाल रंग के पखों वाले पपीहे तूने टेर क्यों लगाई ? (तेरी टेर सुनकर) मैंने समझा कि (मुझ जैसे) चकोर का शशाकधर चंद्र (रूपी) प्रियतम आ गया।

४ – दूहा ५६

कूँझड़ियाँ कुरळाइयाँ, ओलइ बइसि करीर।
'सारहली' जिउँ सल्हियाँ, सज्जण मझ सरीर॥

गुप्तजी ने 'सारहली' शब्द को लेकर बड़ी क्लिष्ट कल्पना की है और उसे शल्य + फली बताया है; परन्तु राजस्थान में 'सार'[2] बरमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'सार' शब्द के आगे केवल ऊनवाचक प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है। संपादकत्रय का अर्थ संगत है। दोहे का अर्थ होगा—

करील की ओट में बैठकर कुररी पक्षी कुरलाए (जिसको सुनकर) प्रियतम (की स्मृति) मेरे शरीर में सार (बरमा) की तरह दुःख देने लगी।

विशेष – 'हली' राजस्थान में 'चलने' क्रि० के रूप में भी व्यवहृत होता है।

१. क - कणियर 'तर' करण सेवती कूजा — वेलि २३६।
   ख - कणवीर ना फूल राता करण ना फल धउला......।
   — वेलि की नागयणवल्ली तथा वनमालीवल्ली टीका (ह० लि०)।

२. 'सार' वेधणी सोय — मुरारीदान डिंगल कोश में बरमा के पर्याय।

५ – ६ दूहा १३८, १३९

ढोला 'ढीलोहर' किया, मूँ क्या मनह विसारि।
संदेसउ इन पाठवइ, जीवाँ किसइ अधारि॥
ढोला 'ढीली हर' मुझ, दीठउ घणे जणेह।
चोल वरन्ने कप्पड़े, सावर धण अणेह॥

गुप्तजी ने दोहा स० १३८ मे 'ढीलीहर' को 'दिली + गृह' तथा दो० १३९ मे "किंतु स्पष्ट ही 'ढीली + हर' दिल्ली + घरा = प्रदेश" बताया है। ढोला ने न तो दिल्ली में घर ही किया था और न अपनी गृहस्थी ही वहाँ जमाई थी – वह तो नरवर का था और नरवर म ही रहा। 'हर' शब्द का अर्थ 'उत्कट इच्छा'[1] ठीक किया है। वर्तमान बोलचाल की भाषा म भी यही अर्थ प्रचलित है। दोहों का क्रमशः अर्थ होगा —

ढोला (तुमने) ढीली[2] (शिथिल) वाछा से किस प्रकार (हमें) विस्मृत कर दिया, सदेशा तक भी नही भिजवाते हो (बताओ हम) किस आधार पर जिएँ।

मेरे शिथिल वाछावाले ढोला, (तुमको) लाल वर्ण के वस्त्रों से सज्जित उस श्रेष्ठ सुदरी को लाते हुए बहुत से व्यक्तियों ने देखा है।

विशेष – गुप्तजी ने दो० १३९ मे 'मुझे' पाठ मानकर 'मुझको' अर्थ किया है वस्तुतः पाठ 'मुझ' है जिसका अर्थ मेरा, मेरी, मेरे होता है।

दूहा – १५१

बीजुळियाँ 'जाळउ'मिल्याँ, ढोला हूँ न सहेसि।
जउ आसाढि न आवियउ, सावण 'समकि' मरेसि॥

गुप्त जी ने 'जाळउ मिल्या' का 'जाल + उमिल्या' होना माना है जो क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सपादकत्रय का पाठ एव अर्थ दोनों ठीक हैं। जाल <

१. क - हरि गुण भणी ऊपनी जिका 'हर', 'हर' 'तिण वंदइ गउरि हर। — वेलि २१
'''रुकमिणी हरिगुण भणिवइ करी अपनी जिका 'हर'=वांछा तिण वांछाय वंदइ गउरि हरि। — नारायणवल्लि बालावबोध टीका (ह० लि०)।

ख - 'हर' म करउ अन - राय हर। — वेलि ७७।
'''ते भणी अनराय कहतां अनेरा सिसुपाल प्रमुख राजान 'हर'=वांछा मत करउ। — नारायणवल्लि बालावबोध टीका (ह० लि०)।

२. वग्ग 'ढीली' कीयं, कीध उम्मगीयं — मेहकवि, गोगाजीरा रसावळा (ह० लि०)।

सं० समूह के अर्थ में वर्तमान मे भी प्रयुक्त होता है। 'जाळो मिलणो' राजस्थानी का एक प्रसिद्ध मुहावरा भी है जिसका 'एक जैसी अनेक वस्तुओं का संघट्टन होता है। 'जाळ' की तरह 'समकि' के अर्थ मे भी खींचातानी है। सपादकत्रय ने इसका अर्थ 'चौंकना' किया है, पर 'समकि' का अर्थ 'गर्जन' वर्तमान मे भी प्रचलित है। दोहे का अर्थ होगा —

ढोला, यदि तुम आषाढ़ में नहीं आए तो विद्युज्जाल मिलने पर मैं (उन्हें) सहन नहीं कर सकूँगी (तथा) श्रावण की गर्जना से (तो अवश्य) मर जाऊँगी।

६ – दूहा १५३

बीजुळियाँ पारोकियाँ, नीठज नीगमियाँह।
अजइ न सज्जन बाहुड़े, वळि पाछी वळियाँह॥

गुप्त जी ने 'पारोकियाँ' को प्रा० पारोक्ख < स० परोक्ष = परोक्षविषयक, परोक्ष-सबधी माना है; परतु इस अर्थ की यहाँ पर सगति नहीं बैठती। 'पारो किया' पाठ सदिग्ध ज्ञात होता है। यदि यहाँ 'पारौं (पारउँ) कियाँ' पाठ हो तो इस दोहे का निम्नलिखित अर्थ सगत बैठ सकता है—

(हे सखी) बिजलियों को किस प्रकार पार करूँ? बड़ी कठिनता से (पहलेवाली बिजलियों को) पार किया था। प्रियतम तो अभी तक नहीं लौटे हैं, (पर वे बिजलियाँ) पुनः लौट आई है।

६ – दूहा १६१

सिधु परइ सउ जोअणे, नीची खिवइ निहल्ल।
उर भेदंती सज्जणां, 'ऊचेड़ंती' सल्ल॥

गुप्तजी ने 'ऊचेड़ंती' शब्द का अर्थ करने में कई क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। सपादकत्रय का अर्थ ठीक है।[1] गुप्तजी लिखते है—'क्योंकि यदि बिजलियाँ विरहरूपी शल्य को उखेल (उखाड़) लेती हैं तो वे विरही का उपकार ही करती हैं।' यहाँ वे भूल गए हैं कि शल्य जब तक स्थिर रहता है तब तक उसमें सामान्य वेदना रहती है और जब उसे हिलाया डुलाया जाता है तो उस स्थान पर अधिक वेदना होती है तथा कभी कभी शल्य उखेड़ने के साथ साथ प्राण भी उखड़ जाते है। दोहे का अर्थ होगा—

समुद्र के पार सौ योजन पर बिजली बहुत ही नीची चमक रही है। वह प्रेमियों के हृदयों के भेदती हुई (हृदयस्थित विरहरूपी) शल्य को उखेड़ती है।

१. क्यूँ जमियोड़ा खरूंट उचेडे है। —एक राजस्थानी लोकोक्ति।

१० – दूहा १६८

दुज्जण वयण न संभरइ, मनौं न वीसारेह।
कूँझाँ 'लाल' बचाँइ ज्यूँ, खिण खिण चीतारेह॥

गुप्तजी ने 'लाल' शब्द को प्राकृत का मानते हुए स० लालय्=स्नेहपूर्वक पालन करना, माना है; परंतु कुररी पक्षी अपने बच्चों को कच्ची अवस्था में ही समुद्रतट पर छोड़ कर मारू देश में चले आते हैं तथा अपनी चितवन से ही उन बच्चों को पोषण देते रहते हैं, ऐसा लोकविश्वास है।[1]

सपादकत्रय ने 'लाल' शब्द का अर्थ ठीक किया है। दोहे का अर्थ होगा—

(हे ढोला तुम) दुर्जनों के वचन मत सुनो (और) मन से (पवित्र) मारवणी को मत भुलाओ। कुररी पक्षी जिस प्रकार अपने छोटे बच्चों को क्षण क्षण पर याद करता है (उसी प्रकार मारवणी भी तुम्हें याद करती रहती है)।

११ – दूहा २११

मन सींचाणउ जइ हुवइ, पाँखाँ हुवइ त आँण।
जाइ मिळीजइ साजणाँ, डाहीजइ 'महिरांण'॥

सपादकत्रय की टीका मे 'महिराण' का अर्थ 'महाराण्य' भूल से छपा ज्ञात होता है; क्योंकि टिप्पणी मे इसकी व्युत्पत्ति 'महार्णव' बताई गई है जो ठीक है। गुप्तजीने '···यह राणा है <प्रा० रण्ण स० <अरण्य' करके महिराण शब्द को द्रविड़ प्राणायाम करवाया है। 'महिराण' शब्द राजस्थान तथा गुजरात में समुद्र[2] अर्थ मे ही प्रचलित है। दोहे का अर्थ होगा —

१. क - चुगइ चितारइ भी चुगइ, चुगि चुगि चीतारेह।
कुरझी बच्चा मेल्हि कइ, दूरि थका पाळेह॥
—ढोलामारू रा दूहा, २०२।

ख - चीतारंती चुगतियां, कुंझां रोवतियांह।
दूरा हुंता तउ पलइ, जउ न मेल्ह हियांह॥ —वही २०३।

२. क - मिळतो नदी डरे 'महिरांणा'। — गीतमंजरी, पृ० २६।

ख - करइ आभ सूँ वात दरियाव काळो।
चळावइ 'महिरांण' सूँ कोण चाळो॥
— अमरोजती - एकादशी प्रबंध (ह० लि०)।

ग - महइणरा मगरा 'महरांण'। — रघुवरजसप्रकास, पृ० २३६।

यदि मन बाज पक्षी हो और प्राण (उसकी) पांखें हों (तभी) इस महार्णव को पार करके प्रिय से मिला जा सकता है।

१२ – दूहा २५७

अति घण ऊनिमि आवियउ 'झाझी रिठि' झड़वाय।
बग ही भलात बप्पड़ा, धरणि न मुक्कइ पाइ॥

संपादकत्रय ने 'झाझी रिठि' शब्द का अर्थ 'अत्यंत शीत' किया है जो प्रसंगानुमोदित है, परंतु टिप्पणी में 'झाझी' शब्द की व्युत्पत्ति 'दग्ध' से मानी है जो ठीक नहीं है। गुप्तजी ने भी 'झाझी < झंझ = क्लेश' अर्थ किया है जो प्रसंगानुकूल नहीं है। 'झाझी' राजस्थानी का बहुप्रचलित शब्द है जिसका अर्थ अत्यंत, बहुत, सुंदर आदि होता है।[1] 'रिठि' शब्द का अर्थ तलवार भी होता है, पर यहाँ पर झड़ी या प्रहार के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] राजस्थान के जैसलमेर भूभाग में अत्यंत

घ - मनरा 'महरांण' समथण मोजां, कायण दीनां तरणां कुरंद।
— रघुनाथ रूपक।

ङ - अण मिजलूँ मो हुवे एमतो, मिट सी किम मौजा 'महरांण'।
— बांकीदास ग्रंथावली, भा० ३, पृ० १०७।

१. क - 'झाझी' निद्रा व्यापइ अंगि। — ढोलामारू रा दूहा, परिशिष्ट।

ख - किलै कूलरं सुगाली माळ 'झाझी'।
— अमरोजती - एकादशी प्रबंध (ह० लि०)।

ग - जोम छक जाणतो ठसक 'जाझी'— प्रा० रा० गी०, भाग २, पृ० १२६।

घ - 'झाझी' प्रीत घणी बिध जाणी, कंथतणी कुंण सेव करै।
— रघुनाथ रूपक, पृ० १०२।

ङ - 'झाझी' नीर सरोवर मोटां - कान्हडदे प्रबंध, पृ० ८२।

च - जो जे करसी 'झांझी' आळ
— झवेरचंद मेघाणी, कल्लोल (गु०), पृ० ७३।

२. क रिपारम आयुध 'रीठ' माची पृथ्वीराज रासौ, पृ० २३६।

ख - खिवंती ऊनागे खागे रचावती 'रीठ' — गीतमंजरी, पृ० १६०।

ग - नराजां उनागी ढाल त्रभागी तराळ नेजां,
राठोडां गनीमां वागी नराताळ 'रीठ'
— प्रा० रा० गी०, भाग २, पृ० १७८।

शीत के लिये रिढ या रढ वर्तमान में भी प्रचलित पाया जाता है।[1] दोहे का अर्थ होगा —

घने बादल उमड़ आए हैं। वर्षायुक्त वायु की अत्यंत झड़ी लग रही है। (इस अवसर पर तो) बेचारे बगुले ही भले जो इस पृथ्वी पर पैर तक नहीं रखते हैं।

१३ – दूहो २६७ वों

> **साल्ह चलंतइ परठिया, आंगण बीखड़ियाँह।**
> **कूवा केरी कुहड़ि' ज्यूं, हियड़इ हुइ रहियाँह॥**

सपादकत्रय ने 'कुहड़ि' का अर्थ 'कुहरा' किया है तथा इसे 'कुहेडी' से व्युत्पन्न माना है जो क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। गुप्तजी ने 'कुहड़ी' का अर्थ तो ठीक समझ लिया है पर समस्त दोहे का भाव समझने में असमर्थ रहे हैं। वे लिखते हैं कि—'कुहरा दो बासों से बनाया जाता है जो एक सिरे पर अलग अलग और दूसरे सिरे पर सटे सटे होते हैं। इसका आकार पदचिह्नों का सा होता है। इसलिये पदचिह्नों से तुलना की गई है।' गुप्तजी यदि एक बार भी किसी राजस्थानी कुए को देख लेते तो सारा मामला उनकी समझ में आ जाता। राजस्थान में 'कुहड़' न तो बासों से बनाई जाती है और न ही उसका आकार पदचिह्नों जैसा होता है सब से बड़ी बात तो यह है कि उपर्युक्त दोहे में पदचिह्नों की तुलना में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'कुहड़' शब्द हृदय का उपमान बन कर आया है। दोहे का अर्थ होगा —

माल्ह कुमार ने चलते समय आंगन में अपनी डगें भरीं (रखीं) (उस समय) मेरा हृदय कुंए की 'कुहड़ी' के समान हो रहा था अर्थात् थर्रा रहा था। ककुए की गडेरी (भूण) जब चलती है तब 'कुहड़ि' में तीव्र कंपन होता है)।

१४ – दूहो ३६६ वों

> **बीछुड़ताँ ई सज्जणाँ, राता किया रतन्न।**
> **'बारौं विहुँ चिहुँ नाँखिया', आँसू मोती मन्न॥**

संपादकत्रय ने 'बारौं विहुँ चिहुँ नाँखिया' का अर्थ 'दिन रात लगातार गिराए' किया है तथा गुप्तजी ने विहुँ का अर्थ दोनों और चिहुँ का अर्थ चारों करते हुए लिखा है — अतः अर्थ होना चाहिए 'दोनों दिन चारों (ओर) गिराए' जो समीचीन

१. क - उत्तर आजस उत्तरउ, पाकउ पडसी 'रीठ'।
— ढोलामारू रा दूहा, पृ० १९१।
ख - आज 'रिठ' दाळो पड़े है — शीत के लिये प्रयुक्त राजस्थानी प्रयोग।

नहीं ज्ञात होता। इस दोहे में प्रयुक्त 'वारॉं' शब्द 'वारा' हो तो दोहे का अर्थ ठीक बैठ सकता है। दोहे का अर्थ होगा —

साजन के बिछुड़ते ही (मैंने) अपने नयनों को (रो रो कर) लाल कर लिया तथा दो चार 'वारे (कुए से पानी निकालने के लिये चमड़े का झोलीनुमा डोल जिसमें करीब ३ मन पानी आता है) मोती के समान अश्रु गिराए।

१५ – दूहा ३७१

मंदिर काळउ नाग जिउँ, 'हेलउ दे दे' खाइ।

गुप्तजी ने 'हेलउ' का अर्थ करते हुए लिखा है — किंतु 'हेला' का अर्थ अनादर, उपेक्षा होता है, इसलिये 'हेलउ दे दे' का अर्थ होगा – अनादार या उपेक्षा करते हुए। परंतु इस अर्थ में गुप्तजी ने केवल 'कोश' को आधार मान कर क्लिष्ट कल्पना की है। 'हेला' राजस्थानी तथा गुजराती का बहुप्रचलित शब्द है जिसका अर्थ 'पुकार' ही होता है। सपादकत्रय का अर्थ ठीक है। 'हेलो मार र खावणों' तथा 'वकार र खावणों' राजस्थानी के प्रसिद्ध मुहावरे भी हैं। जिनका अर्थ 'पुकार कर खाना या ललकार कर खाना' होता है। दोहे का अर्थ होगा —

घर काले नाग के समान पुकार पुकार कर काटता है।

१ – दूहा ३७२

सज्जणिया वळाइ कइ, गउखे चढ़ी लहक्क।
भरिया नयण कटोर ज्यूं, 'मुंधा हुई डहक्क'॥

सपादकत्रय ने 'मुधा हुई डहक्क' का अर्थ 'मुग्धा बिलखने लगी' किया है तथा गुप्तजी 'डहक <प्रा० टह <स० दह = दग्ध होना मानते हैं, परन्तु प्रसंग को देखते हुए 'मुंधा हुई डहक' के स्थान पर 'मूधा हुया डहक' पाठ अधिक संगत जान पड़ता है। दोहे का अर्थ होगा —

प्रियतम को विदाई देकर (मैं) लहककर झरोखे में चढ़ी (उस समय प्रियतम को जाते देखकर मेरे) नयन भरे हुए कटोरे के समान 'डहक डहक' करते हुए उलट गए अर्थात् तीव्र वेग से अश्रुपात होने लगा।

विशेष – इस दोहे मे 'लहक' तथा 'डहक' शब्द ध्वन्यात्मक है।

१७ – दूहा ३७७

'साई दे दे' सज्जना, रातइ इँणि परि रुँन।
उरि ऊपरि आँसू ढळई, जाँणि प्रवाळी चूँन॥

संपादकत्रय ने 'साइ दे दे' का अर्थ 'धाड़ मारकर' किया है (पृ० १२१) तथा इसे साति=पेशगी दिया हुआ धन से व्युत्पन्न बताया है (५०६) जो प्रसंगानुमोदित नहीं है। गुप्त जी साई को '···संभवतः<प्रा० साई<सं० सादि (स + आदि) है' मानते हुए जो 'कारन' अर्थ करते हैं वह भी समीचीन नहीं ज्ञात होता। 'साई' राजस्थानी भाषा का बहुप्रचलित शब्द है जिसका व्यवहार 'परिचय'[1] के अर्थ में हुआ है। बोलचाल की भाषा में अर्थसंकोच के कारण 'साई' का तात्पर्य 'पेशगी दिया हुआ धन' ही ग्रहण किया जाता है, परंतु वास्तव में यह 'परिचय' से ही सबंधित है। दोहे का अर्थ होगा—

प्रिय, (मै) तुम्हारा परिचय दे दे कर रात्रि मे इस प्रकार रोई कि हृदय पर जो आँसू गिरते थे वे मानों प्रवाल के नगीने हों अर्थात् शोकविह्वलता से आँसुओं के स्थान पर रक्त निकलता था।

विशेष – रोते समय प्रियजन के चरित्रों का परिचय देना वर्तमान मे भी प्रचलित है।

१८ – दूहा ३८७

'उर' मेहाँ पवनाँह ज्यउँ, करइ 'उडंदड' जाइ।
पूगळ जाइ प्रगडउ करइ, करइ मारवणि दाइ॥

सपादकत्रय ने 'उर' शब्द का अर्थ 'वह' किया है तथा गुप्त जी 'उर (दे०) आरंभ, प्रारम (पा० स० म०) लगता है' अर्थ करते हैं। दोनों अर्थ प्रसंगानुसार समीचीन ज्ञात नहीं होते हैं। 'उर' शब्द का व्यवहार अन्यत्र भी हुआ है वहाँ 'हृदय' अर्थ लिया गया है तो यहाँ हृदय=मन अर्थ लेने मे कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। दूसरे शब्द 'उडदड' को गुप्तजी अथरन उदंडउ=उद्दड बताते है। यह शब्द क्रियाविशेषण है तथा इसका अर्थ संपादकत्रय ने ठीक किया है। दोहे का अर्थ होगा—

१ क - सावळिगि सिउ 'साई' लिद्ध, बहु मान मन सुद्धिइं दिद्ध।
—सदयवत्सवीरप्रबंध, २४०।
ख - तां राजा छांडि रेवंत, 'साई' दीधु सामली कंत।—वही, ३११।
ग - 'साई' लेई लगिउ पाइ, तां बालइ अवळी गम राइ। —वही, ६४२।
घ - 'साई' देज्यो सज्जनां, म्हा साम्हा जोएह। – ढोलामारूरा दूहा, ४०६।
ङ - ढोलामारू अलजयउ, 'साई' दे मिळियांह।—वही, ३१२।
च - 'साई' सकोडी मारवी, उचळि गई वणेहि।—वही, परिशिष्ट।

मन, मेघ और पवन के समान करहा उड़ता जा रहा है। वह पूगळ पहुँच कर ही प्रभात करेगा और इसी प्रकार मारवणी को अच्छा लगनेवाला कार्य करेगा।

१६ – दूहा ४१६

'सींगण' काँइ न सिरजियाँ, प्रीतम हाथ करंत।
काठी साहँत मूठिमाँ कोडी कासी संत॥

सपादकत्रय ने 'सींगण' शब्द का अर्थ 'नरसिंहा' बताते हुए अंतिम चरण का अर्थ अस्पष्ट बताया है। गुप्तजी ने 'शृंगणि' तक का अर्थ ठीक करते हुए आगे के शब्दों में क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। 'सींगण' राजस्थानी भाषा का बहुप्रचलित शब्द है, राजस्थानियों के विस्मृत हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। दोहे का अर्थ होगा—

(हे प्रभु) मुझे प्रियतम के हाथ का शृंगणी[1] = धनुष क्यों नहीं बनाया। जिससे मुझे वे अपनी मुट्ठी में कसकर पकड़ते तथा प्रसन्न[2] होकर खैंचते।

२० – दूहा ४३०

करहा इण 'कुळिगाँमड़इ', किहाँ स नागरवेलि।
करि 'कइराँ' ही पारणउ, अइ दिन यूँही ठेलि॥

१. क - परठ उडण पटा, खाग नेजा खजर, गाज गुपति गदा सांग 'सींगण' सुधर।
– सांया झूला रुकमिणीहरण (ह० लि०)।

ख - सावे 'सींगणी' – मेह कवि, गोगाजी रा रसावळा (ह० लि०)।

ग - धूसण तणा कसण कसकमइ, गाढइ गुणि 'सींगण' असं असइ।
—सदय वत्सवीर प्रबंध, ३११ (ह० लि०)।

घ - 'सींगणी' परखड तीर। —कान्हड़ दे प्रबंध, ३१।

ङ - सपराण 'सींगणी' गुणि गाजई। —वही, ५२,७३।

च - सामा 'सींगण' तीर बिछूटई। —वही, ८८,२१४।

छ - 'सींगणी' गुण टंकार सहित बाणावलि ताणई।
—भरतेश्वर बाहुबली रास, १२६।

२ क - व्रत कियो राज मन घणे 'कोडि' खय गयो रोग गई देह खोडि।
—अमरोजती, एकादशी प्रबंध (ह० लि०)।

ख - मारिवातणो मरम पूछई 'कोडि'। – सदयवत्सवीरप्रबंध, ४६७।

ग - 'कोड' आपणाउ किम पहुचस्यइ। – कान्हड़ दे प्रबंध।

२१ – दूहा ४३१

'कइरॉं कूँपळ नवि चरूँ, लंघण पड़इ पचास।

'कुलिगाँमडइ' शब्द का अर्थ गुप्तजी ने '···कुलिगाँम<प्रा० कुड्य ग्राम< स० कुटज ग्राम = झोंपड़ियों का ग्राम' किया है; परंतु राजस्थान के ग्राम तो प्रायः झोपड़ियों के ही होते है और वे 'कुळग्राम' नहीं कहे जाते। यहाँ कुळग्राम का तात्पर्य 'कुग्राम'[1] (ग्रामोचित साधनहीन) से ही है। सपादकत्रय का अर्थ संगत है। 'कइर' शब्द को लेकर गुप्तजी ने बड़ी विचित्र कपल्पना की है — 'करीर में ऐसी कोंपलें होती भी नहीं हैं जिन्हें ऊँट चर सके।' गुप्त जी यदि एक बार राजस्थान के किसी ग्राम मे जाकर देख आते कि ऊँट 'कैर' की कोंपलें खाता है या नहीं। संपादकत्रय का अर्थ ठीक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से, कइर सं०<कदर जिसे श्वेत खदिर कहा जाता है वह 'कैर' से भिन्न वृक्ष है। प्रस्तुत पद्य मे 'कइर' 'करील' ही है खदिर[2] नहीं। दोहों का अर्थ होगा—

हे करहा, इस कुग्राम मे नागरबेल कहाँ? करील से ही पारना करले और इन दिनों को ऐसे ही व्यतीत कर दे। ४३०

ऊँट बोला—करील की कोंपलें तो नहीं चरूँगा, चाहे पचास लंघन करने पड़ जायँ। ४३१

२२ – दूहा ४४२

> जिण धण कारण ऊमह्यउ, तिण धण 'संदा वेस'।
> तिण मारूरा तन खिस्या, पंडर हुवा ज केस॥

१. क - 'कुग्राम' वासः कुलहीन सेवा। — चाणक्यनीतिदर्पण।
ख - 'कुळगांव' मे इरंडियो ही रूंख? — राजस्थानी कहावतें।
ग - किस्या रूख फळ राउ अवधार्यउ, राणी मनि संदेह।
बीली, बोर, 'कइर' इंगोरा, माथव मा फळ ऐह॥
— कान्हडदे प्रबंध, पृ० ७१।
घ - ज्यूं चित 'कइरां' कूमटां, ज्यूँ चित सांगर फोग।
यूँ चित लागै हर रै नांवसूँ, कटै कामारा रोग॥
— सबद ग्रंथ (अप्रकाशित)।
ङ - आंब सरीखउ आक गिणि, जाणि 'करीरां' झाड़ि -- ढोलामारू० ४३२।
जिण भुंइ पन्नग पीवणा, 'कइर' कंटाळा रूंख।
— ढोलामारू०, ६६१।
च - कंदमूळ फल 'कैर' पावै रांण प्रतापसी। — दुरसा आढा।

सपादकत्रय ने 'संदावेस' का अर्थ 'सदेशा कहता हूँ' (पृ० १४४) और दूसरा अर्थ 'संद = के, वेस = वेश' किया है। गुप्त जी इन दोनों अर्थों को कल्पित मानकर 'संदा <संद < सं० स्पद = भरना, टपकना। इसी प्रकार 'वेस < सं० वयस्' अर्थ करते हैं जो प्रसंगानुमोदित नहीं है। संपादकत्रय का द्वितीय अर्थ ठीक है। 'सदा' सबंधकारक का विभक्ति चिह्न है इसका प्रयोग अन्यत्र भी उपलब्ध है।[1] दोहे का अर्थ होगा —

ढोला, जिस प्रेयसी के लिये तू उमगित हो रहा है उसका स्वरूप कहता हूँ। सुन, उस मारू के अंग ढीले हो गए है और बाल भी पककर सफेद हो गए हैं।

२३ – दूहा ४५६

तीखा लोयण कटि 'करल' उर रत्तड़ा बिबीह।

गुप्त जी ने 'करल' शब्द को द्राविड़ प्राणायाम कराते हुए '…करल < प्रा० करलि < स० कदली=एक जाति का हरिण' अर्थ किया है जो अप्रासगिक है। संपादकत्रय का 'मुष्टिग्राह्य'[2] अर्थ समीचीन है। दोहे का अर्थ होगा—

उसके लोचन तीक्ष्ण हैं, कटि मुष्टिग्राह्य है तथा वक्षस्थल पर (उरोज) दो रक्त पपीहों के समान हैं।

२४ – दूहा ४६०

डींभू लंक, मराळिगय, पिक सर एही वाँणि।
ढोला एही मारुई, जेहा 'हंफ निवाँणि'॥

गुप्त जी ने 'हंफ निवाँणि' शब्दों पर बड़ी क्लिष्ट कल्पनाएँ की है। वे हंफ < स० इम्भा से बनाते हैं जिसे 'कन्या' से व्युत्पन्न बताते हुए निवाँण < प्राकृत णिव्वाण < स० निर्वाण (= परम सुख) व्युत्पन्न करते हुए 'निर्वाणकन्या' अर्थ करते हैं जिसका यहाँ कोई प्रसग ही नहीं है। सपादकत्रय का अर्थ ठीक है। हंफ = हंस[3] तथा

१. क - सज्जण 'संदइ' कारणइ हिवड हिलूसइ नित्त। — ढोलामारू०, पृ० ६१
　ख - लहरी सायर 'संदिया' बूठउ 'संदउ' वाव। — वही, २२६।
　ग - पीहर 'संदि' डूबणी, ऊमर हुंदइ सथ्थ। — वही, ६३०।
　घ - बाबा बाळउ देसड़उ, पाणी 'सदी' तादि। — वही, ६५६।
२. क - कसा अंग मापित 'करल'। — बेलि सिरी किसन रुखमिणीरी, ६६।
　ख - …मापित 'करल' मूंठीयइ ग्राह्य छइ।— वनमालीवल्ली टीका (अप्रका०)।
३. प्राणनाथ प्रीतम मिल्यौ, फिरि सरि बैठो 'हंफि'। — ढोलामारू, परिशिष्ट।

निवाँण < सं० निपान = जलाशय' के अर्थ में बहुप्रचलित शब्द है। दोहे का अर्थ होगा—

उसकी बर्र के समान कटि, हंसिनी के समान गति तथा कोयल के स्वर जैसी वाणी है। हे ढोला (उपर्युक्त लक्षणोंवाली) मारवणी ऐसी है जैसे सरोवर मे स्थित हंस।

२५ – दूहा ४६३

> आदीताहूँ ऊजळो, मारवणी मुख भ्रम।
> झीणा कप्पड़ पहिरणइ, जाँणि 'झँखइ' सोभ्रम॥

संपादकत्रय ने 'झँखइ' शब्द का अर्थ 'झलकता' किया है तथा गुप्तजी इसे प्रा० झंख = सतप्त मानकर 'मानो सोना तप रहा हो' अर्थ करते हैं जो प्रसंगानुमोदित नहीं ज्ञात होता है। 'झंखई' शब्द राजस्थानी भाषा मे 'ढकना, धुमेला, ढका हुआ, आच्छादित' अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। दोहे का अर्थ होगा —

मारवणी के मुख का वरण आदित्य से भी उज्वल है। उसके बारीक वस्त्र पहनने से (उसका शरीर इस प्रकार दिखाई देता है) मानो आच्छादित सुवर्ण हो।

१. क - नीखरि धरजळ रह्यउ 'निवाणे' — वेलि २०६।
ख - '···निवाणे' तालाब, नदी, प्रमुख जलाशय।
— वनमालीवल्ली बालावबोध टीका।
ग - महि मंडळ किय जाहि उद्धारा, नीर 'निवाणहि' सत्कारा।
— आबू रास १४।
घ - जळ नाहन थोरो कहुं, सागर नदी 'निवाँण'।
स्वाति बूँद चात्रग भखे, अनि सब कूठ समान॥
— (एक ह० लि० पत्र)
ङ - नील चरावन हाथ गैमरो 'निवाँण' — गीतमंजरी, पृ० ४०।
च - आडावळा अवली धरा, नीचा अरट 'जेवाँण'—रा०दो०सं०, पृ० ११६।
छ - पुर प्रासाद नइघट्ट 'निम्वाण', गामि गामि गिरूआ अहिठाण।
— लदपत्सवीरप्रबंध (ह० लि०)।
ज - नीरद वरसण 'भरण - निवाँण' — डिंगलकोश, मेघनाम, पृ० ८६।
झ - नीर 'निर्वाणा' ठहरे — कबीरग्रंथावली, पृ० ५२४।

२६ – दूहा ४७४

उरि गयवर नइ पग भमर, हालंती गय - हंक ।
मारू पारेवाह ज्यू अंखी रत्ता मंक ॥

गुप्तजी 'गय हंक' शब्द का अर्थ 'गजकन्या' करते हैं जो अप्रासंगिक है। गजकन्या की उपमा कल्पित ही है। सपादकत्रय का अर्थ 'हंक = हंस' ठीक है। दोहे का अर्थ होगा —

(उसका) वक्षस्थल हाथी के कुंभस्थल के समान है तथा पैरों पर (नूपुर) भ्रमर के समान (शोभित होते हैं) वह हाथी तथा हंस की चाल से चलती है। मारवणी के नयनो मे कबूतर की आखों के समान लालिमा है।

विशेष द्रष्टव्य दोहा ४६० का विवेचन

२७ – दूहा ४६२

सड़ सड़ वाहि म कंबड़ी, राँगा देह म चूरि ।

गुप्तजी ने 'राँगाँ' शब्द को 'राग या राँग' समझ कर उसका अर्थ कवच किया है। राजस्थान मे ऊँट पर सवारी करते समय किसी प्रकार का कवच टागो मे धारण नहीं किया जाता है। सपादकत्रय ने 'राँगाँ' शब्द का अर्थ 'रानें' ठीक किया है। वर्तमान म बोलचाल की भाषा मे भी यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। जायसीग्रथावली का 'राग' शब्द 'वंग' धातु ज्ञात होता है। दोहे का अर्थ होगा —

ढोला तुम सड़ा सड़ छड़ी मत चलाओ और न रानों के दबाव मे मेरी देह का चूरा करो।

२८ – दूहा ५४८

डेडरिया खिण मँह हुवइ घण वूठइ 'सरजित्त'।

गुप्तजी 'सरजित्त' शब्द को = सं० सर्जित (= बनाया हुआ) से व्युत्पन्न मान कर 'बनाया हुआ' अर्थ करते हैं जो प्रसगानुकूल नहीं है। घन के बरसते ही क्षण भर में 'मेंढक' बनाए नहीं जाते बल्कि सजीवित हो उठते हैं। सपादकत्रय का अर्थ समीचीन है। दोहे का अर्थ होगा —

मेंढक तो घन के बरसते ही क्षण भर मे संजीवित हो जाते हैं।

२६ – दूहा ६००

मारवणी मुख - ससि तणइ, कसतूरी महकाइ।
पासइ पन्नग पीवणउ 'विळिकुळियउ' तिणिठाइ ॥

संपादकत्रय ने 'विळकुळियउ' शब्द का 'निकला' (पृ० २००) तथा 'चंचलता के साथ हिलना' (पृ० ५४८) दो अर्थ किए हैं और गुप्त जी ने पा० स० म० के आधार पर 'दूसरे को व्यामुग्ध करने के लिये विस्वर वचन बोलनेवाला' अर्थ किया है जो किसी भी प्रकार से संगत नहीं बैठ सकता है। 'विळकुळिउ' शब्द का प्रयोग राजस्थानी साहित्य मे 'प्रकट होना' (अ० क्रि०) के अर्थ मे पाया जाता है।[1] प्रस्तुत दोहे मे भी इसी आशय से प्रयुक्त हुआ है। दोहे का अर्थ होगा—

मारवणी के मुखचंद्र से कस्तूरी की महक आ रही थी, उसी स्थान पर निकट एक पीवणा नामक सर्प प्रकट हुआ।

३० दूहा ६०४

झाबकि पइठी झाळि, सुंदरि दीठी सास विण।
जिमि 'ह्वालौ' विच बाल, प्रिव जोई मारू नहीं ॥

क - बर्बरीय भाँति झटकइ कवालि, 'वळकळियउ' वटाणु थिउ भ्रकुटी भागि।
—राजस्थान के कवि, भा० १, पृ० ४६।

ख - वीर अमाण अवसाण सिद्ध 'विळकुळे' – प्रा० रा० गी०, भा० ३, पृ० १०५।

ग - 'विळकुळे' नरापुर सुरौं वाखाणिया — वही, १४३।

घ - ये 'विळकुळे' कमध अवतारी, तेज गाळे मुगलांणतणो। वही, २ पृ० १२४।

ङ - कूदगा कायरा वाजती काहळी, वीर आगा समा सूरमा 'विळकुळी'।
— साँया झूला - रुखमणिहरण (ह० लि०)।

च - वड तुग वीर सिंह 'विळकुळीयं' अस छोडी ल्हास उतावळीयं।
कवि मेह – पाबूजीरो छंद (ह० लि०)।

छ - खळहळा खेत चळवळा खापर भर वीसहथ 'विळकुळी'।
— रघुवरजसप्रकास, पृ० ३२४।

ज - वेद - नाद पंडत 'विळकुळीया' महल महल मुणि सुरनर मिळिया।
— रामरासौ (ह० लि०)।

गुप्त जी ने 'ह्लालाँ' शब्द को <प्रा० वह <सं० व्यथ् अथवा वध् से व्युत्पन्न मानकर 'पीड़कों वा बधिकों' अर्थ किया है जो प्रसंगानुकूल समीचीन नहीं ज्ञात होता। 'ह्लाला' शब्द राजस्थानी साहित्य तथा बोलचाल की भाषा मे बहुप्रचलित शब्द है जिसका 'प्रिय' अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। दोहे का अर्थ होगा—

जैसे ही ढोला ने अपने प्रियजनों के मध्य अपनी प्रिया को नहीं देखा, तत्पश्चात् उस सुंदरी को बिना साँस के देखा तो ढोला के मन में सहसा ज्वाला प्रविष्ट हो गई अर्थात् अत्यंत शोकसंतप्त हो गया।

*

हिंदी - व्याकरण - संबंधी गवेषणा – ६

हिंदी भाषा में आश्रित उपवाक्यों के भेद

स० म० दीमशित्स

मिश्रित वाक्य वह वाक्य कहलाता है जिसमे एक ही प्रधान उपवाक्य और एक या एक से अधिक आश्रित वाक्य हों। आश्रित वाक्य मिश्रित वाक्य का वह भाग है जिसमे वह 'आश्रयवाची योजक'[1] शब्द होता है जो आश्रित वाक्य को प्रधान वाक्य से जोड़ देता है। ये योजक दिखाते हैं कि यह वाक्य स्वतंत्र नहीं है और यह प्रकट करते हैं कि यह वाक्य आश्रित होते हुए दूसरे प्रधान उपवाक्य के लिये पूरक वर्णनात्मक का काम पूरा करता है। अगर मिश्रित वाक्य मे कोई योजक शब्द नहीं होता है तो दोनों उपवाक्यों का संबंध स्वरभंगिमा याने लहजे से प्रकट होता है। जैसे—मैंने सुना वहाँ पढ़े लिखे लोगों को काम दिया जाता है।

हिंदी भाषा मे निम्नलिखित प्रकार के छः आश्रित उपवाक्य होते हैं—

१. कर्ता उपवाक्य। २. विधेय उपवाक्य। ३. कर्म उपवाक्य। ४. विशेषण उपवाक्य। ५. विशेषताबोधक उपवाक्य (एडवर्बल) और ६. योजक उपवाक्य।

कर्ता उपवाक्य—कर्ता उपवाक्य ऐसे वाक्य कहलाते हैं जो प्रधान मे अविद्यमान कर्ता का काम देते हैं या प्रधान उपवाक्य के कर्ता को (जो कर्ता सर्वनाम से अभिव्यक्त होता है) ठोस सार से भर देते हैं। सब अवसरों पर जब प्रधान उपवाक्य में कोई सर्वनाम शब्द कर्ता होता है तब आश्रित उपवाक्य उस कर्ता को ठोस बनाते हैं और उस (कर्ता) के विस्तृत अर्थ को परिसीमित करते हैं।

कर्ता उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से निम्नलिखित योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है—'कि', 'गोया', 'मानो', 'जैसे' और 'जो'। प्रधान उपवाक्य मे उनके अनुरूप सर्वनाम 'वह', 'सब', 'हर (कोई)', 'ऐसा' इत्यादि हो सकते हैं—

१. लेखक के मत मे योजक अविकारी शब्दों का एक भेद है 'आश्रयवाची योजक'। जैसे 'कि', 'ताकि', 'जो', 'यदि', 'अगर' आदि।

१ - मुमकिन है कि तुम उसे (काम को) पसंद भी न करो। २ - रफी को ऐसा लगा कि नीला की हँसी उन सबसे ऊँची थी। ३ - सरोज को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने उसके कलेजे में बर्छी भोंक दी हो। ४ - यह असंभव है कि वह आज आये।

कर्त्ता उपवाक्य जब प्रधान उपवाक्य से 'जो' योजक शब्द से जोड़ा जाता है तब वह प्रधान उपवाक्य से पहले रखा जाता है। जैसे—जो ज्यादा कीमत दे, ले जाये।

विधेय उपवाक्य—विधेय उपवाक्यों में ऐसे वाक्य आते हैं जो या तो प्रधान उपवाक्य को अर्थवान् बना देते हैं या फिर प्रधान उपवाक्य के विधेय के नामिक अंग का अर्थ प्रकट कर देते हैं।

विधेय उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'कि' और 'जो' योजक शब्दों से जोड़ा जाता है। प्रधान उपवाक्य में उनके अनुरूप सर्वनाम 'वह' और 'वैसा' हो सकते हैं।

विधेय उपवाक्य प्रायः प्रधान वाक्य के बाद आता है। जैसे—१–पंचों की सलाह है कि मकान बेच दिया जाये। २–उन्हें विश्वास न हुआ कि तहसीलवाले उनके गाँव से चले गये। ३–बात तो वही है जो तुम कहते हो।

कर्म उपवाक्य—कर्म उपवाक्य प्रधान उपवाक्य के किसी अंग के लिये कर्म का काम देते हैं और वे बहुधा उस अंग की क्रिया के अधीन होते हैं जिसका अर्थ कर्म के बिना अपूर्ण होता है। इसलिये कि कर्म उपवाक्य प्रधान उपवाक्य में कर्म का अभाव पूरा कर देते हैं वे प्रायः क्रिया के अधीन होते हैं। विशेषकर कर्म उपवाक्य निम्न क्रियाओं से नियंत्रित होते हैं—देखना, सुनना, लिखना, जानना, बताना, सुनाना, समझना, कहना, डरना, डराना, तय करना, महसूस करना आदि।

कर्म उपवाक्य प्रधान कर्म से 'कि' और 'जो' योजक शब्दों से जोड़ा जाता है। यदि कर्म उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'जो' योजक शब्द से जोड़ा जाता है तो उसका नित्यसहवर्ती शब्द प्रधान वाक्य में 'वह' होता है या 'वह' के रूप होते हैं। जैसे – जो बहुत जानना चाहता है उसे ज्यादा पढ़ना चाहिए।

कर्म उपवाक्य या तो प्रधान उपवाक्य के पश्चात् (प्रायः) या प्रधान उपवाक्य से पूर्व (कम) आता है। वह प्रधान उपवाक्य से पहले तब रखा जाता है जब वह उससे 'जो' योजक शब्द द्वारा जोड़ा जाता है, अथवा जब कर्म उपवाक्य पर विशेष ध्यान खींचना होता है। विशेष ध्यान खींचने की दशा में प्रधान उपवाक्य में नित्यसहवर्ती शब्द के रूप में सर्वनाम 'यह' का प्रयोग होता है। इससे आश्रित उपवाक्य के भाव पर अधिक बल दिया जाता है। कर्म उपवाक्य से संबंधित अपनी स्थापना को स्पष्ट करने के लिये हम नीचे कतिपय उदाहरण देते हैं —

१. उसने फोरमैन से मिलते ही कह दिया कि वह एक बेकार है और किसी काम की खोज में यहाँ आया है।

२. मेरे घर में जो कुछ है वह आप सब ले लीजिये लेकिन मकान छोड़ दीजिये।

३. वह आज लौट आयेगा या कल यह हम नहीं कह सकते।

विशेषण उपवाक्य—विशेषण उपवाक्य विशेषण की तरह प्रधान उपवाक्य में किसी संज्ञा शब्द के अधीन होता है और उस संज्ञा शब्द को विशिष्ट करता है। विशेषण उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'जो', 'कि', 'गोया', 'मानो' योजक शब्दों से जोड़ा जाता है। प्रधान उपवाक्य में उनके नित्यसहवर्ती सर्वनाम 'वह', 'यह', 'ऐसा' तथा उक्त तीनों के रूप होते हैं, जो संज्ञा शब्द के साथ प्रयुक्त होते हैं और आश्रित उपवाक्य के अस्तित्व के द्योतक होते हैं। जैसे—१-यह वह पैसा है जो एक गरीब अंधा लड़का इस झोली में डाल गया है। २-हम इस नतीजे पर पहुँचे कि उससे मिलने जाना चाहिये। ३-उसके पास तो कोई ऐसी चीज न थी जिसे वह गिरवी रख सकता।

वह विशेषण उपवाक्य जो योजक 'कि' शब्द द्वारा प्रधान उपवाक्य से जोड़ा जाता है और जिस योजक शब्द का नित्यसहवर्ती सर्वनाम ऐसा होता है वह परिणाम अर्थ भी रखता है। जैसे—१-आज सुबह ऐसी हवा चली कि जाना मुश्किल था।

विशेषण उपवाक्य जिसमें योजक शब्द 'जो' है वह प्रायः प्रधान उपवाक्य से पहले आता है। यथा—गाँव के जिन ब्राह्मणों ने उसे गाँव से बाहर निकाला था अब वही प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरते हैं।

लेकिन जब वाक्य का वह अंग जिससे योजक शब्द 'जो' सहित आश्रित उपवाक्य प्रधान उपवाक्य के मध्य या अंत में होता है तो विशेषण उपवाक्य निर्दिष्ट शब्द के पश्चात् ही अर्थात् प्रधान उपवाक्य के अंत में या उसके मध्य में रखा जाता है। ऐसी हालत में प्रधान उपवाक्य में निर्देशात्मक सर्वनामों का प्रायः अभाव होता है। जैसे—१-हर महीने उसे मखनी के बाप के एक दो खत आ जाते थे जिनमें उसकी आनेवाली शादी की चर्चा होती। २-लकड़ी के तख्तों से बने एक छोटे से केबिन में जिसकी खिड़कियों में लाल और हरे रंग के शीशे लगे हुए थे एक यूरेशियन बैठा था।

'कि', 'गोया', 'मानो' योजक शब्दों सहित विशेषण उपवाक्य संज्ञा शब्द का गुणात्मक विवरण करते हैं और सदा प्रधान उपवाक्य के पश्चात् आते हैं।

जैसे—१–वह लोग आज रहे कि कल ··· ···। २–उनके बीच ऐसी बातचीत हुई गोया (मानो) वह गहरे दोस्त हों।

विशेषताबोधक आश्रित उपवाक्य

हिंदी में निम्नलिखित विशेषताबोधक उपवाक्य होते हैं—

१–समय विशेषताबोधक उपवाक्य। २–स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य। ३–उद्देश्य विशेषताबोधक उपवाक्य। ४–कारण विशेषताबोधक उपवाक्य। ५–प्रकार विशेषताबोधक उपवाक्य। ६–संभावना विशेषताबोधक उपवाक्य। ७–क्षति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य।

समय विशेषताबोधक उपवाक्य—समय विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य की क्रिया की पूर्ति का समय निर्दिष्ट करता है। वह प्रधान उपवाक्य से 'जब', जबतक', 'ज्यों ही', 'जैसे ही', 'कि' योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है। प्रधान उपवाक्य में उनके नित्यसहवर्ती 'तब', 'तो', 'त्यों ही', 'वैसे ही' इत्यादि शब्द हो सकते हैं। 'जब' योजक शब्द सहित या किसी नित्यसहवर्ती शब्दसमुदाय सहित समय विशेषताबोधक उपवाक्य प्रायः प्रधान उपवाक्य से पहले आता है। उदाहरणार्थ—१–पहले जब वह उससे मिलती थी तो उससे बात भी नहीं करती थी। २–ज्यों ही चंदे की झोली उसके सामने पहुँची उसने उसमें कुछ डाल दिया।

'कि' योजक शब्द सहित समय विशेषताबोधक उपवाक्य सदा प्रधान उपवाक्य के पश्चात् आता है। जैसे—वह वाटिका में एक पेड़ के नीचे एक किताब खोले बैठा था कि कोई चुपके से आकर उसके पास खड़ा हो गया।

स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य—स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य स्थान विशेषताबोधक शब्दों का काम देते हैं। वे या तो प्रधान उपवाक्य में स्थान विशेषताबोधक शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं या प्रधान उपवाक्य के विधेय के अधीन होते हुए उस प्रधान उपवाक्य में स्थान विशेषताबोधक शब्द के अभाव की पूर्ति करते हैं। स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'जहाँ', 'जहाँ से', 'जिधर', 'जहाँ कहाँ' इत्यादि योजक शब्दों द्वारा जोड़े जाते हैं। प्रधान उपवाक्य में उनके नित्यसहवर्ती प्रायः 'वहाँ', 'वहाँ से', 'उधर', 'उधर से' निर्देशात्मक शब्द होते हैं।

स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य प्रायः प्रधान उपवाक्य से पहले आते हैं। जैसे—जहाँ इस वक्त दिल्ली बसी है उसके इर्दगिर्द पुरानी दिल्ली के खंडहर पाए जाते हैं।

लेकिन जब स्थान विशेषताबोधक प्रधान उपवाक्य के अंत में अथवा बीच में होते हैं तो स्थान विशेषताबोधक उपवाक्य या तो प्रधान उपवाक्य के पश्चात् ही या

फिर उसके बीच रखा जाता है। जैसे—लंबे पतझड़ में तो सागर के ब्राह्मण ज्यादातर परदेश में नौकरी की खोज में निकल जाते, जहाँ वे रसोइये रख लिए जाते।

उद्देश्य विशेषताबोधक उपवाक्य—उद्देश्य विशेषताबोधक उपवाक्य वाक्य में उस क्रिया का उद्देश्य बताता है जिसका वर्णन प्रधान उपवाक्य में होता है और प्रायः प्रधान उपवाक्य के विधेय से उसका संबंध होता है। उद्देश्य विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'कि', 'ताकि', 'जिससे', 'जिसमे' योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है। इस किस्म के आश्रित उपवाक्यों में विधेय की अभिव्यक्ति बहुधा क्रिया की सभाव्य अवस्था (मूड) के साधारण रूप से होती है। उद्देश्य विशेषता-बोधक उपवाक्य सदा प्रधान उपवाक्य के पश्चात् ही आता है। जैसे—रागी झुकी के घड़े को पकड़ कर जगत पर रखे।

कारण विशेषताबोधक उपवाक्य—कारण विशेषताबोधक उपवाक्य उस बात का कारण और आधार बताते हैं जिसका वर्णन प्रधान उपवाक्य में होता है। यह आश्रित उपवाक्य प्राय पूरे प्रधान उपवाक्य से सबंध रखते है। कारण विशेषता बोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य के कारणार्थक योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है। जैसे—वह कल न आ सका क्योंकि बहुत व्यस्त था।

'चूंकि' योजक शब्द सहित कारण विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से पहले आता है। जैसे—चूंकि मै उसका बड़ा मित्र हूँ वह मुझसे सब कुछ साफ-साफ कह देता है।

यदि प्रधान उपवाक्य म क्रिया के कारण पर विशेष ध्यान दिया जाता है तो 'इसलिये कि' सयुक्त कारणार्थक योजक शब्द का पहला खंड 'इसलिये' निर्देशात्मक शब्द के रूप मे प्रधान उपवाक्य मे रखा जाता है और इस योजक शब्द का शेष खंड 'कि' ही आश्रित उपवाक्य म आता है। जैसे—मैं तुमसे यह सवाल इसलिये पूछ रहा हूँ कि यही काम तुम्हे उस पुल पर करना होगा।

प्रकार विशेषताबोधक उपवाक्य—प्रकार विशेषताबोधक उपवाक्य ऐसी भूमिका अदा करते हैं जैसी कि प्रकार विशेषताबोधक शब्द। उक्त उपवाक्य प्रधान उपवाक्य की क्रिया का प्रकार या विशेषता भी निर्दिष्ट करते हैं।

प्रकार विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'जिस तरह', 'जैसे (कि)', 'जैसा (कि)' और 'कि' योजक शब्दों द्वारा जोड़े जाते हैं। प्रधान उपवाक्य मे उनके नित्यसहवर्ती 'वह', 'वैसा', 'ऐसा' प्रायः होते हैं, जो क्रिया या क्रियाविशेषण से संबधित होकर पूरे उपवाक्य द्वारा ठोस बनाए जाते हैं। जैसे—१-छत्रपति ने जिस तरह वह साल गुजारा वह उसका दिल ही जानता था। २-मैं ठीक ठीक वैसा ही पढ़कर सुना रहा हूँ जैसा कि यहाँ लिखा है। ३—काम ऐसे करना चाहिए कि

घर की आबरू बनी रहे। जब प्रधान वाक्य में नित्यसहवर्ती शब्द नहीं होते हैं तब आश्रित उपवाक्य और प्रधान उपवाक्य के संबंध इतने दृढ़ नहीं होते हैं और आश्रित उपवाक्य तुलना की अभिव्यक्ति करते हुए पूरे वाक्य से सबंधित हो सकते हैं। प्रकार विशेषणाबोधक उपवाक्यों के समूह में तुलनात्मक विशेषताबोधक उपवाक्य भी संमिलित हैं। इस किस्म के आश्रित उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'गोया', 'मानो', 'जैसे (कि)' योजक शब्दों से जोड़े जाते हैं। प्रधान उपवाक्य मे उनके नित्यसहवर्ती 'ऐसा', 'इस तरह', 'इस कदर' आदि शब्द होते है। तुलनात्मक विशेषताबोधक उपवाक्यों मे विधेय की अभिव्यक्ति बहुधा क्रिया की संभाव्य अवस्था के किसी रूप से होती है। जैसे—१–ताजमहल ऐसा दिखता है गोया अभी बनकर तैयार हुआ हो। २–वह आँख बंद किए ऐसा पड़ा था मानो सो रहा हो। ३–उसने इस तरह साहब की तरफ देखा जैसे उनका मतलब नहीं समझे।

तुलनात्मक विशेषताबोधक उपवाक्यों मे ऐसे भी वाक्य हैं जिनकी तुलना प्रधान उपवाक्य से क्रिया के प्रकार मे नहीं बल्कि केवल गुण और मात्रा मे ही होती है। गुणात्मक और मात्रात्मक तुलनावाले आश्रित उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'जैसा' और 'जितना' सर्वनामों से जोड़े जाते हैं। प्रधान उपवाक्य मे उनके नित्य-सहवर्ती सर्वनाम 'ऐसा' और 'इतना' होते हैं। उदाहरणार्थ—१–उसके पास ऐसी किताबे हैं जैसी मेरे पास है। २–उसके पास इतनी किताबें हैं जितनी मेरे पास हैं।

संभावना विशेषताबोधक उपवाक्य—संभावना विशेषताबोधक उपवाक्यों में शर्त के मानवाली क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। इस किस्म के आश्रित उपवाक्य उस शर्त का निर्देश करते हैं जिसपर प्रधान उपवाक्य की क्रिया की पूर्ति निर्भर करती है। संभावना विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'अगर', 'यदि', 'जो', 'जब', 'कहीं' योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है। प्रधान उपवाक्य में सदा उनका नित्यसहवर्ती 'तो' आता है। संभावना विशेषताबोधक उपवाक्य प्रायः प्रधान उपवाक्य मे पहले प्रयुक्त होते हैं लेकिन वह प्रधान उपवाक्य के पश्चात् भी प्रयुक्त हो सकते हैं। वास्तविक शर्त की स्थिति में आश्रित वाक्य के विधेय की अभिव्यक्ति साधारण अवस्था (मूड) की क्रिया से होती है। उदाहरणार्थ—अगर आप हमारी सलाह पूछेंगे तो हम यही कहेंगे।

जब शर्त संभावित होती है तब आश्रित उपवाक्य का विधेय संभाव्य अवस्था की क्रिया से अभिव्यक्त होता है। जैसे—अगर तुम हावड़ा पुल पर जाओ तो शायद काम बन जाये।

अवास्तविक शर्त की हालत में आश्रित वाक्य के विधेय की अभिव्यक्ति हेतुहेतुमद्भूत अवस्था की क्रिया से होती है। जैसे—मिस्टर सेठ के ऊपर यदि छत

गिर पड़ी होती या उन्होंने बिजली का तार हाथ से पकड़ लिया होता तो भी वह इतने बदहवास न होते।

सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य—सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य उस शर्त का निर्देश करता है जो प्रधान उपवाक्य की क्रिया की पूर्ति में बाधा होती है और साथ ही यह दिखाता है कि यह शर्त फिर भी उस क्रिया की पूर्ति में रुकावट नहीं हो पाती है।

सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से 'यद्यपि', 'चाहे', 'हालाँकि', 'अगरचे', 'गो' योजक शब्दों द्वारा जोड़ा जाता है। 'अगरचे' सहित सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य सदा प्रधान वाक्य से पहले आता है। अन्य योजक शब्दों सहित इस प्रकार के आश्रित उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से पहले या पीछे प्रयुक्त हो सकते हैं। जब सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य प्रधान उपवाक्य से पहले आता है तो जटिल वाक्य के दोनों उपवाक्यों के बीच 'तथापि', 'तो भी', 'फिर भी', 'ताहम',' लेकिन' प्रभृति नित्यसहवर्ती योजक शब्द प्रयुक्त किए जाते है। जैसे—१–अगरचे वह मुझसे छोटा है तो भी उसके शरीर में कहीं ज्यादा ताकत है। २–यद्यपि हमको वहाँ जाने की इजाजत नहीं मिली तथापि वहाँ की स्थिति से हम अवगत हैं। ३–हमारे सामान उठानेवाले हाँफने लगे, हालाकि उनपर बहुत बोझ नहीं था।

'चाहे' सहित सति अर्थक विशेषताबोधक उपवाक्य का विधेय संभाव्य अवस्था के साधारण रूप से अभिव्यक्त होता है। जैसे—चाहे कुछ हो जाये इसके हाथ में यह पैसा ना जाये।

योजक उपवाक्य—योजक आश्रित उपवाक्यों में ऐसे उपवाक्य परिगणित होते हैं जिनमें प्रधान उपवाक्य में हो रहे विवरण के वक्ता का निष्कर्ष, मूल्याकन या टिप्पणी दिए जाते है। इस प्रकार के आश्रित उपवाक्य सदा प्रधान उपवाक्य के पश्चात् आते हैं और प्रधान उपवाक्य म ऐसा कोई संकेत नहीं होता है कि प्रधान वाक्य के बाद उपवाक्य हो। वे पूरे प्रधान उपवाक्य से सबधित होकर उसके साथ 'कि' और 'जो' योजक शब्दो से जोड़े जाते हैं। जैसे—१–तुम्हे कोई काम नहीं है कि तुम दिन भर इधर उधर घूमा करते हो। २–यहाँ क्या कोई मिठाई खाये जाता था जो दौड़ी चली आई।

*

वि म र्श

भारत में देवदासी : अनुकथन

•

काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका के ६५वें वर्ष के चौथे अंक में 'भारतवर्ष में देवदासी' शीर्षक लेख में श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने कतिपय चिंत्य बातें लिखी हैं। सदर्भसंकेत और समुचित पाद-टिप्पणी का उपयोग नहीं के बराबर है। कहीं केवल रचनाकार का नाम है, कहीं केवल रचना का। पृष्ठसंख्या का निर्देश विषयपोषक उद्धरणों में जहाँ तहाँ है।

लेख को साहित्यिक माना जाय या ऐतिहासिक। यदि ऐतिहासिक है तो अपरिपुष्ट कल्पना प्रश्रयणी नहीं है। इतिहास तथ्य की विलुप्त कड़ियों का पता लगाकर दृढ़ और बहुमान्य आधार प्रस्तुत करता है। इतिहास में विस्तार की अपेक्षा तथ्यमूलक नियंत्रण अनिवार्य है। श्री चतुर्वेदीजी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है।

उन्होंने लिखा है—'इस सन्दर्भ में आठवीं नवीं शती के अरब भूगोलवेत्ता अल इद्रिसी और अबू जैद अलहसन आदि के उन वर्णनों का भी स्मरण हो आता है, जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम के सिंध आक्रमण के प्रसंग में उक्त मंदिर का उल्लेख किया है।[1] यहाँ निम्नलिखित संकेत विचारणीय हैं—

१ नाम होना चाहिए 'अल इद्रीसी'[2] न कि 'अल इद्रिसी'।

२ अल इद्रीसी आठवीं नवीं सदी में नहीं हुआ। उसका जन्म मोरक्को के कवेटा नामक स्थान पर ११वीं सदी के अंत में हुआ था।[3]

३ अबू जैद अल हसन ९१६ ई० में वर्तमान था।[4]

४ अलइद्रीसी और अबू जैद अलहसन ने मुहम्मद बिन कासिम के सिंध आक्रमण का किस पुस्तक में कहाँ विवरण दिया है, चतुर्वेदी जी ने इसका निर्देश नहीं किया है।

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अंक ४, पृ० ३४६ (सं० २०१७)।

२ ईलियट हिस्ट्री आव इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस, भा० १, १८६७, पृ० ७४।

३. अल इद्रीसी नजहत उल मुश्ताक, वही।

४. ईलियट वही, पृ० २।

वे लिखते हैं, 'तेरहवीं शती के मुस्लिम इतिहासज्ञों ने, जो सोमनाथ मंदिर पर आक्रमण के समय महमूद गजनी के साथ थे, लिखा है कि उन्होंने पाँच सौ गाने नाचने वालियों को देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर नाचती गाती थीं।'[1]

उपरिलिखित कथन से कई नवीन तथ्य सामने आते हैं—

१. महमूद १३वीं शती में वर्तमान था।
२. सोमनाथ पर महमूद का आक्रमण १३वीं शती में हुआ।
३. सोमनाथ पर आक्रमण के समय महमूद के साथ मुस्लिम 'इतिहासज्ञों' का दल था।
४. उन 'इतिहासज्ञों' ने सोमनाथ के आक्रमण के समय गाने नाचने वालियों की गणना करके लिखा कि उनकी संख्या ५०० है और लगे हाथ उनका नाच भी देख डाला।

महमूद तीस वर्ष की अवस्था में अपने पिता अमीर सुबुक्तगीन के देहांत के बाद (६६७ ई०) गजनी के तख्त पर बैठा। उसने भारत पर अनेक आक्रमण किए। उसका अंतिम और बारहवाँ आक्रमण गुजरात के सोमनाथ मंदिर पर हुआ। अक्तूबर १०२५ में वह सोमनाथ की चढ़ाई के लिये गजनी से चला और जनवरी १०२६ ई०[2] के दूसरे सप्ताह सोमनाथ पहुँचा। इस आक्रमण में 'इतिहासज्ञों' की तो बात क्या कोई 'इतिहासज्ञ' उसके साथ न था और न उसके दरबार के किसी इतिहासकार ने सोमनाथ की देवदासियों पर कुछ लिखा है। न फिरदौसी ने 'शाहनामा' (रचनाकाल लगभग १०१० ई०) में, न अल-उत्बी ने 'किताब-उल-यामिनी' (रचनाकाल १०२३ ई० के लगभग) में।

संदर्भयुक्त किंवदंती शैली का निर्वाह इस निबंध में किस प्रकार किया गया है, इसका उदाहरण एक ही अनुच्छेद से गृहीत ये विशिष्ट वाक्यांश प्रस्तुत करते हैं। विस्तारभय से पूरा अनुच्छेद उद्धृत नहीं किया गया है —

'विदेशी यात्री मार्कोपोलो (तेरहवीं शती) ने लिखा है'''इटालियन यात्री निकोली कोंटी (पंद्रहवीं शती) ने भी'''एक अन्य विदेशी यात्री ग्रैस्पोवाली के '''अनुसार सोलहवीं शती के पुर्तगाली यात्री दोमिंगो पेज के विवरण से'''अन्यत्र यह भी कहा गया है'''फ्रेंच यात्री बर्नियर ने भी'''महाराष्ट्री ज्ञानकोश के अनुसार''' कहा जाता है कि अठारहवीं शती में'''।'[3]

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वही, पृ० ३४६।
२. अलबीरूनी, तारीख-उल-हिंद, पृ० १२१।
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वही, पृ० ३४७–४८।

मार्कोपोलो, निकोली कौटी, ग्रैस्पोवाली, दोमिंगो पेज, बर्नियर आदि यात्रियों ने कहाँ क्या लिखा है और लेखक को कैसे, किस आधारग्रंथ से मिला, इसका कुछ भी निर्देश नहीं है। केवल 'कहा जाता है' से इतिहास का संतोष नहीं होता।

कतिपय वदतोव्याघात भी है—'उत्तर भारत में भ्रमण करनेवाले बर्नियर और मनूची जैसे विदेशी यात्रियों के यात्राविवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पाई जाती। यही नहीं, मुस्लिम इतिहासकार भी इस संदर्भ में मौन से हैं। केवल बर्नियर जगन्नाथ मंदिर की देवदासी प्रथा का नाम लेता है।'[१]

एक जगह लिखा है—'उत्तर भारत में भ्रमण करनेवाले बर्नियर और मनूची जैसे विदेशी यात्रियों के यात्राविवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पाई जाती।' उसी उठान में आगे लिखा है—'केवल बर्नियर जगन्नाथ मंदिर की देवदासी प्रथा का नाम लेता है।'

यहाँ मुझे अपनी ओर से कुछ नहीं कहना है।

उद्धृत दोनों वाक्यों के बीच लिखा है—'यही नहीं मुस्लिम इतिहासकार भी इस संदर्भ में मौन से हैं।'

'तारीख-ए-अलफी में भी इस मंदिर का वर्णन है। जहाँ पर बतलाया गया है कि इस मंदिर से तीन सौ गवैये और पाँच सौ नर्तकियाँ संबद्ध हैं। यह यहाँ की प्रथा है कि भारत के राजे महाराजे तक अपनी कन्याओं को मंदिर में सेवा के लिये भेज दिया करते हैं।'[२]

'तारीख-ए-अलफी' का लेखक क्या मुस्लिम इतिहासकार नहीं है?

एक जगह लिखा है—'विवाहिता के बजाय अविवाहिता कन्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी।'[३]

'अविवाहिता कन्या' प्रयोग इतिहासबोध की दृष्टि से अनुचित है। वैसे साहित्यिकों को पर्यायार्थों का व्यामोह रहा करता है।

प्रयोग फिर दोहराया गया है—'कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाता था।'[४]

'कन्या' के पहले 'कुमारी' की क्या आवश्यकता, क्या 'कन्या' शब्द का अभिधेयार्थ 'कुमारी' नहीं?

*

१. वही, पृ० ३४७।
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वही, पृ० ३४६।
३. वही, पृ० ३४८।
४. वही।

च य न

हिंदी

मध्यकालीन हिंदी भाषा का अनुपम ग्रंथ — तुहफतुल हिंद

डा० अचलानंद जखमोला

समेलन पत्रिका, आश्विन – मार्गशीर्ष, शक १८८३, भाग ४७ में प्रकाशित निबंध का सार —

'तुहफत् - उल् - हिंद' का शब्दार्थ है 'भारत का एक उपहार'। यह विशाल ग्रंथ मध्यकालीन भारतीय मुसलमानों में जाग्रत मानववाद के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें अकबर महान् द्वारा प्रेरित भारतीय एवं फारसी संस्कृतियों के सामंजस्य तथा उनके एकीकरण का प्रयास है।

इस ग्रंथ के पाँच हस्तलेखों की सूचना है — ब्रिटिश म्यूजिअम, बोदलियन लाइब्रेरी, रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, इंडिया आफिस लाइब्रेरी लंदन तथा पब्लिक ओरियंटल लाइब्रेरी पटना। प्रस्तुत लेखक को केवल इंडिया आफिस की प्रति मिल सकी। पूरा ग्रंथ २८६ पत्रों का है जिनमें पत्र १८६ मूल से १६७ पीठ तक नहीं हैं। पूर्वार्ध शुद्ध सुंदर नस्तालीक में लिखा है किंतु उत्तरार्ध में वैसी शुद्धता तथा स्पष्टता नहीं है। पृष्ठ २८६ पीठ पर लिपिकार ने लिपिकाल यों दिया है — 'बतारीख हफ्तुम रजब व फजले इलाही सूरते इतमाम मदबरफ्त ११६४ हिजरी' (१७८० ई०)।

ग्रंथकार का वास्तविक नाम अधिक स्पष्ट नहीं है। पट्‌श कैटलग में 'मिर्जा जान फकुद्दीन मोहम्मद', ब्रिटिश म्यूजियम एव बोदलियन लाइब्रेरी की ग्रंथसूचियों में केवल 'मिर्जा इब्न फकुद्दीन मोहम्मद' लिखा गया है — खान या जान कुछ नहीं है। रा० ए० सो० की प्रति में 'मिर्जा खान इब्न फकुद्दीन मोहम्मद' और इंडिया आफिस की प्रति मे 'मिर्जा मोहम्मद इब्न फकुद्दीन मोहम्मद' नाम मिलते हैं। व्यक्तिगत परिचय भी विवादास्पद है।

'तुहफतुल हिंद' में भारतीय साहित्य की सामान्य या विशिष्ट विद्वन्मंडली मात्र से संबद्ध विभिन्न विषयों का विवेचन है। ग्रंथ विषयवस्तु या उसके निरूपण की दृष्टि से पूर्णतः विस्तृत अतः हिंदी भाषा के लिये महत्वपूर्ण है। अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक ने हिंदी भाषा के सभी आवश्यक तत्वों को समग्र रूप में सुरक्षित रखने और प्रचारित करने में कसर नहीं रखी। शब्दार्थशास्त्र, ध्वनिशास्त्र, हिंदी वर्णों की फारसी वर्णों में अखगैटी (आर्थोग्राफी) एव ब्रजभाषा के प्रारंभिक व्याकरण की दृष्टि से यह ग्रंथ अमूल्य और अपरिहार्य है।

पूरे ग्रंथ मे मुकद्दिम (भूमिका), खातिमा (परिशिष्ट) के अतिरिक्त सात 'बाब' (अध्याय) हैं।

संपूर्ण ग्रंथ पर विशद् विवेचन के बाद निष्कर्ष यह है कि मिर्जा खाँ का यह प्रयास मौलिक तथा स्तुत्य है। प्राचीन संस्कृत के पथ से अलग इस कोशकार ने एक नवीन धरातल पर 'लुगतये हिंदी' का निर्माण किया और शब्दों की नियोजना, उनकी लिप्यंतरण या वर्णांतर व्यवस्था में एक नवीन मौलिक ढंग अपनाया। इन दृष्टियों से प्रायः ३०० वर्ष प्राचीन यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करता है।

अँगरेजी

संस्कृत नाटक की कुछ विलक्षणताएँ और उनके परिणाम

रमेशचंद्र सुंदरजी बेतइ, एम० ए०, पी-एच० डी०

•

जर्नल आव् द युनिवर्सिटी आव् बांबे, सितंबर १९६०, खंड उनतीस, भाग २ में प्रकाशित 'सम पिक्यूलियरिटीज आव् संस्कृत ड्रामा ऐंड देयर रिजल्ट्स' शीर्षक निबंध का सार—

कालिदास, भवभूति, शूद्रक और भास सर्वविदित संस्कृत नाटककार हैं और स्वभावतः उसी क्रम में हैं शाकुंतल, उत्तररामचरित, मृच्छकटिक और स्वप्नवासवदत्ता प्रसिद्धतम नाटक। वस्तुनिर्माण, पात्रसंख्या, जीवन और प्रणय संबंधी दृष्टियों के महत्त्वपूर्ण उभार में इन चारों नाटकों में पर्याप्त अंतर है। उत्तररामचरित में वैवाहिक सूत्र में आबद्ध ऐसे आदर्श प्रणयी युगल की विरहगाथा है जहाँ राम और सीता अपने अदम्य प्रेम का परिणाम सहते हैं। शाकुंतल की महत्ता अपने नाटकीय एवं काव्यगत समन्वय तथा साथ ही स्वर्ग और पृथ्वी के छोरों के मिलाप के कारण है। मृच्छकटिक अकेला ऐसा है जिसमें कवि की समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक और चारित्रिक दशा के अतिरिक्त सुधारवादी दृष्टिकोण की विशेषता है। स्वप्नवासवदत्ता हमें हर ओर से सादगी तथा शालीनता के विशाल संसार में बनाए रखने में विख्यात है। चारों नाटक न्यूनाधिक मात्रा में भरत के नाट्यशास्त्र के अनुगामी हैं, साथ ही नाटकीय दिशा में कुछ मान्यताओं और परंपराओं के निर्मापक भी।

इन नाटकों में कुछ ऐसे साम्य हैं जिनके दूरव्यापी परिणाम हैं—१. रसगत साम्य, २. नायक और नायिका में साम्य, ३. कथावस्तु में साम्य तथा ४. नाटकीय कौशल में साम्य। इन साम्यों पर अलग अलग विस्तार से विचार करते हुए यह माना गया है कि संस्कृत के सभी नाटक शास्त्रीय नियमों से इतने कसे हुए हैं कि वे उन नियमों का अतिक्रमण कर ही नहीं पाते। नियम सहायक अवश्य होते हैं परंतु वे ही जब बहुत कठोरता से बरते गए तो नाटकों का वैविध्य ही समाप्त हो गया।

उक्त साम्यों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए इस शैथिल्य के चार कारण माने गए हैं—१. हमारे आकर साहित्य की उच्च मर्यादा २. कवियों की दशा, ३. नाट्यशास्त्रीय नियमों की अतिशय कठोरता तथा ४. नाटकों से उपलब्ध आनंद के संबंध में भ्रामक बुद्धि। इन चारो कारणों पर विशद् विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि अपने आप में संस्कृत नाटकीय कौशल—नाटक में १. दुःखांत के अभाव, २. वस्तु की अपेक्षा नायक पर अधिक बल, ३. नायक के गुणों की परिपूर्णता पर अधिक आग्रह, ४. रसप्रतिपादन में साम्य, ५. अतिनिषेध, ६. आदर्शीकरण के अतिरेक, ७. क-साहित्यिक आभिजात्य, ख - नाटक के संबंध में आनंद की विचित्र कल्पना, ग-राजाओं या धनी आश्रयदाता के प्रति अति विनय (जिससे कालिदास तक अभिभूत हैं) के समानांतर ऐतिहासिक चित्रण होने के कारण — हमारे नाटक पर अति अधिक प्रतिबंधकारी प्रमाणित हुआ और उसने संस्कृत के बड़े से बड़े कवि की श्रेष्ठतम स्वतंत्र अभिव्यंजना को रोका। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत नाट्यशास्त्र ने कौशल को पूर्णता अवश्य प्रदान की पर वह हमारे प्रथम श्रेणी के कवियों की रचनाओं में सहायक होने के बदले बाधक ही अधिक हुआ। कालिदास और भवभूति की महत्ता मुख्यतः उनकी काव्यगत उच्चता में है।

चित्सुखाचार्य कृत शंकरविजय और आनंदगिरि प्रसिद्ध नाम आनंदज्ञान कृत प्राचीन शंकरविजय

डा० डब्लू० आर० अंतरकर

•

जर्नल आव् द युनिवर्सिटी आव् बाबे, सितंबर १९६०, खंड उनतीस (न्यू सीरीज) भाग २ में प्रकाशित 'बृहत् शंकरविजय आव् चित्सुखाचार्य ऐंड प्राचीन शंकरविजय आव् आनंदगिरि एलिअज़ आनंदज्ञान' शीर्षक निबंध का सारांश—

भारतीय इतिहास में शंकराचार्य का स्थान अप्रतिम है। अतः स्वभावतः बहुतों ने उनके जीवन और कृतित्व पर लिखा। श्री टी० नारायण शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'एज आव् शंकर' में ऐसे संस्कृत में लिखे गए जिन दस जीवनवृत्तों का उल्लेख किया है उनमें प्रथम दो अर्थात् चित्सुखाचार्य कृत शंकरविजय तथा आनंदगिरि प्रसिद्धनाम आनंदज्ञान कृत प्राचीन शंकरविजय के हस्तलेख इस निबंध के लेखक को भारत में कहीं प्राप्त नहीं हुए। इन दोनों ग्रंथों के उद्धरण मिलते हैं जिनकी प्रामाणिकता तथा कभी विद्यमानता तक के संबंध में विद्वज्जन शंकालु हैं।

बृहत्शंकरविजय के संबंध में लिखते हुए श्री टी० कृष्णमाचारी उसे शंकराचार्य का जीवनवृत्त कहते हैं और उनके अनुसरण में व्यासाचल कृत शंकरविजय

के संपादक ने उसे शंकर का नौवाँ जीवनचरित कहा है। पंडित बलदेव उपाध्याय एक हस्तलेख का संकेत देकर उसे सर्वज्ञ चित्सुख का बताते हैं। काशी से प्रकाशित चित्सुखी के संपादक स्पष्टतः कहते हैं कि चित्सुख ने शंकर की एक जीवनी भी लिखी। सुषमा (गुरुरत्नमालिका पर टिप्पणी) नामक कांची कामकोटि पीठ की गुरुपरंपरा में चित्सुख के शंकरविजय का उद्धरण है और कहा है कि निरंतर श्री चित्सुखाचार्य प्रतिक्षण शंकर की सेवा में रहे। हाल में पता चला है कि मठ-पुस्तकालय में उनके बृहत्शंकरविजय की एक हस्तप्रति है। श्री टी० एस० एन० शास्त्री सर्वोत्तम प्रमाण देते हुए बताते हैं कि बृ० शं० वि० के तीन भाग थे, १. पूर्वाचार्य सत्पथ, २. शंकराचार्य सत्पथ और ३. सुरेश्वराचार्य सत्पथ जिनमें केवल द्वितीय के हस्तलेख की जीर्ण प्रति उन्हें मिली।

बृ० शं० वि० के उपोद्घात प्रकरण में चित्सुख का कथन है कि वे केरल के गोकर्ण स्थान के निवासी थे। पाँच वर्ष की वय में गुरुकुल में पढ़ते हुए वे शंकराचार्य के संपर्क में आए और उनके साथ हो लिए। उनका मूल नाम विष्णुशर्मन् और शंकर का दिया नाम चित्सुख था। कहते हैं, यही चित्सुख आगे द्वारका पीठ के द्वितीय आचार्य हुए। चित्सुख का ग्रंथ गुरुविजय भी कहलाता है। प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि बृ० शं० वि० नाम से शंकराचार्य का यह जीवनवृत्त निश्चित रूपेण विद्यमान था जिसके आधार पर श्री शास्त्री ने शंकर की जीवनी प्रस्तुत की।

दूसरा विचारणीय ग्रंथ है आनंदज्ञान प्र०ना० आनंदगिरि का प्रा० शं० जय।

सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि यह ग्रंथ अनंतानंदगिरि (लेखक का नाम प्रायः गलती से आनंदगिरि के रूप में लिया जाता है) के नाम से ख्यात 'शंकरविजय' से भिन्न है जो १८८६ में बिब्लियोथेका इंडिका सीरीज में छपा था। कतिपय प्रमाणों से यह धारणा होती है कि प्रा० शं० वि० हाल तक विद्यमान था।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्री टी० एस० एन० शास्त्री के पास यह ग्रंथ था, यद्यपि उन्होंने ऐसा स्पष्ट कहा नहीं। उन्होंने कुछ अंश अपने ग्रंथ में इससे उद्धृत किए हैं। सुषमा में इसके प्रचुर उद्धरण हैं, माधव अपने प्रथम श्लोक में ही इसका नाम लेते हैं, अच्युतराय मोदक अद्वैतराज्यलक्ष्मी नामक अपनी टीका में प्रा० शं० वि० की विद्यमानता प्रकाशित करते हैं। अच्युतराय ने माना है कि प्रा० शं० वि० के कर्ता आनंदज्ञान प्र० ना० आनंदगिरि शुद्धानंद के शिष्य तथा शांकरभाष्यों के टीकाकार थे। अच्युतराय के अनेक स्थलों पर ऐसे प्रमाण मिलते हैं।

इन विवरणों से यह प्रमाणित है कि आनंदज्ञान प्र० ना० आनंदगिरि का प्रा० शं० वि० विद्यमान ही नहीं वरन् अच्युतराय के समक्ष १८३० ई० में उपस्थित था।

❀

निर्देश

संस्कृत

सारस्वती सुषमा, वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, संवत् २०१६, अंक ३

रसतत्वविमर्श—श्री मुकुंदशास्त्री खिस्ते।

त्रैपुरदर्शन—श्री बटुकनाथ शास्त्री।

भारतीय दर्शनेषु निर्विकल्पक ज्ञान—श्री जगन्नाथ उपाध्याय।

हिंदी

हिंदुस्तानी, प्रयाग, भाग २२, अंक २, १९६१

ब्रजभाषा में लिंगज्ञान—डा० अंबाप्रसाद सुमन।

पं० लल्लूलाल—जीवनी और समस्याएँ—डा० आशागुप्त।

परिषद् पत्रिका, पटना, वर्ष १ अंक ३।

वेदस्तुति का दार्शनिक तथ्य—श्री बलदेव उपाध्याय।

ईसाइयों का आध्यात्मिक विवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

पद्मावत के कुछ विचारणीय स्थल—डा० माताप्रसाद गुप्त।

हिमालय के कुछ प्रदेश और उनकी भाषाएँ—श्री किशोरीदास वाजपेयी।

भक्तों का सखी - मनोविज्ञान—श्री मिथिलेशकांति।

बिहार के रसिक संत—डा० भगवती प्रसाद सिंह।

विश्वंभरा, हिंदीविश्वभारती अनुसंधानपरिषद्, बीकानेर, वर्ष १, अंक १

हर्ष संवत्—श्री उदयवीर शास्त्री।

भारतीय ज्योतिष का विस्मृत महाकाल—श्री काशीराम शर्मा। इस निबंध में महाकाल को स्टैंडर्ड टाइम का सूचक माना गया है।

स्वरोदय विज्ञान संबंधी हिंदी और राजस्थानी साहित्य—श्री अगरचंद नाहटा।

संमेलन पत्रिका, प्रयाग, चैत्र - ज्येष्ठ : शक १८८३, भाग ४७ अंक २

मतिराम नामधारी दो कवि—डा० भगीरथ मिश्र।

रामायण एवं मानस मे सांस्कृतिक चित्रण—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित।

वही, चैत्र - ज्येष्ठ : शक १८८३, संख्या

उपाध्याय लक्ष्मीतिलकरचित 'शांतिदेव रास'—श्री अगरचंद नाहटा।

हिंदी संत साहित्य मे सहज समाधि—डा० केशनीप्रसाद चौरसिया।

भूषण और मतिराम—डा० भगीरथ प्रसाद दीक्षित।

अँगरेजी

बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज, लंदन, खंड चौबीस भाग ३

आन द प्राब्लेम आव् ए मेथड फार ट्रीटिंग कंपाउंड ऐंड कजंक्ट वर्ब्स इन हिंदी (हिंदी की मिश्र और संयुक्त क्रियाओं की एक व्यवहारविधि की समस्या पर विचार)—पाल हाकर। प्रस्तुत निबंध मे लेखक ने अपनी स्थापना पर बर्टन पेज द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर दिया है।

ए खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन फ्राम चाइना (चीन से प्राप्त एक खरोष्ठी अभिलेख)—जान ब्रो।

जर्नल आव द युनिवर्सिटी आव् बाबे, वाल्यूम उनतीस (न्यू सीरीज) सितंबर १९६०, भाग २।

हीम्स टु अग्नि इन मंडल फर्स्ट—प्रो० एच० डी० वेलंकर। ऋग्वेद के प्रथम मडल में अग्नि मंत्र।

विष्णु ऐज आदित्य (इन द वेदिक लिटरेचर)—डा० जे० एन० शेंदे। वैदिक साहित्य में आदित्य के रूप में विष्णु के निरूपण पर विचार।

द भगवद्गीता व्यू आन द इम्प्यूटेबिलिटी आव् कर्म—डा० बी० एस० अग्निहोत्री। भगवद्गीता का कर्मसंबधी मत।

सोमचंद्रज कमेंटरी आन वृत्तरत्नाकर—डा० जी० एच० गोडबोले। वृत्तरत्नाकर पर सोमचंद्र की टीका का सुसपादित धारावाहिक प्रकाशन।

फ्रेंच आथर आव् ए मराठी पुराण—(फ्रा० एतीने दे ला क्रोए)—प्रो० ए० के० प्रियोलकर। गोवा में पुर्तगाली शासन के आरभिक दिनों में जनता पर पाशविक अत्याचार के साथ हिंदुओं के धर्मग्रंथ खोज खोज कर नष्ट किए गए। इसके बाद विदेशी शासकों द्वारा धर्मपरिवर्तित नव ईसाइयों के पाठ तथा उनसे इतर जनों को धोखा देने के लिये मराठी पुराण की रचना कराई गई। प्रस्तुत निबंध में उक्त पुराण की एक आध अलभ्य प्रतियों के विवेचन विश्लेषण के साथ मराठी साहित्य के इतिहास पर उसके आरभिक प्रभाव की खोज की गई है।

राजपूत आर्ट—डा० एच० गोएत्ज। राजपूत कला के उद्भव तथा विकास पर विचार।

द कार्टर्ली जर्नल आव द मिथिक सोसाइटी, मैसूर, जुलाई १९६०

सपोर्ट फार द आर्कटिक होम थियरी फ्राम द लेटेस्ट (१९५८) फाइंडिंग्स आव् साइस—डा० बी० एम० आप्टे। लोकमान्य तिलक तथा उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने आर्यों का आदि देश उत्तरी ध्रुव के आसपास माना है। प्रस्तुत निबंध में उक्त मत का समर्थन आधुनातन (१९५८) वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा प्रस्तावित है। वेद, अवस्ता, तुलनात्मक कथाओं के सिंहावलोकन के पश्चात् वैज्ञानिक आधार का विवेचन किया गया है।

विश्वभारती कार्टर्ली, भाग २६, संख्या २, बसंत १९६०

रोल आव् अदर स्पेक्टेटर्स इन ड्रामैटिक एप्रीसिएशन (नाटकीय रसानुभूति में अन्य दर्शकों का महत्व)—श्री प्रभासजीवन चौधरी। अभिनवगुप्त से आरंभ कर नाटकीय रसानुभूति में दर्शकों के महत्व एवं तत्संबंधी उपकरणों एवं प्रभावों की विवेचना तथा व्याख्या।

❀

समीक्षा

हिंदी अभिनवभारती और हिंदी नाट्यदर्पण

आचार्य विश्वेश्वर ने संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक मूर्धन्य ग्रंथों के हिंदी अनुवाद और व्याख्याएँ प्रस्तुत की है, इसके लिये हिंदी जगत् उनका ऋणी रहेगा। आज के संदर्भ मे जब हिंदी अपने को पुष्ट करने के लिये सतत प्रयत्नशील है, इन कार्यों का महत्व और भी अधिक हो जाता है। अनुवाद और व्याख्या के कार्य का महत्व इस बात मे है कि हिंदी के आलोचक अपनी अद्वितीय शास्त्रीय परंपरा को पहचानें तथा उससे अपनी नवीन दृष्टि को माँजने की कोशिश करें।

अभिनवभारती के तीन अध्यायों — एक, दो और छः अध्याय – का जो विद्वत्तापूर्ण भाव विश्वेश्वरजी ने प्रस्तुत किया है, वह श्रम और यत्न साध्य होने के साथ साथ विवेकसमत भी है। अभिनवभारती का भाष्य असाधारण कार्य था। एक तो अभिनवभारती के खंडित त्रुटिपूर्ण अंशो के कारण पाठनिर्णय का कार्य ही अगाध्य था दूसरे उसकी व्याख्या कम कठिन नहीं थी। लेखक ने अथक परिश्रम और अटूट साहस के बल पर इन दोनों कामों को सफलतापूर्वक संपन्न किया। इसकी व्याख्या सर्वप्रथम हिंदी मे आई, इसलिये उसके गौरव की अशेष की वृद्धि हुई, इसम कोई संदेह नहीं है।

रामकृष्ण ने इसका संपादन करते समय अत्यधिक कठिनाइयों का अनुभव किया था —' ... यदि एक बार स्वय अभिनवगुप्त भी स्वर्ग से उतर आवें तो वे इन पाडुलिपियों को देखकर अपने शुद्ध पाठ का उद्धार नहीं कर सकते।' यदि आचार्य विश्वेश्वर को भाष्य न लिखना पड़ता तो उनके लिये भी विवेकाश्रित संपादन - पद्धति का आश्रय लेने के बावजूद यह कार्य समान रूप से दुष्कर था। इसलिये सपादन मे पाठशोधन के साथ अर्थशोधन का कार्य भी अपेक्षित है।

अभिनवगुप्त एक असाधारण व्याख्याता, अद्भुत मेधावी और मौलिक चिंतक थे। उन्होंने काव्य - शास्त्र-संबंधी दो भाष्य लिखे — 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती'। पहला आनंदवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक की टीका है दूसरा नाट्यशास्त्र की। लेकिन इनपर सैकड़ों मौलिक ग्रंथ निछावर हैं। ये तो मौलिक ग्रंथों से कहीं बढ़कर हैं। यों भी टीकाओं का महत्व कम नहीं है। वे केवल हमारे संस्कारों का ही संस्कार नहीं करतीं, बल्कि समीक्षात्मक चेतना को विकसित करने में सहायता भी पहुँचाती है। मल्लिनाथ की टीकाओं से, जिनमें अनेक मौलिक सूत्र बिखरे पड़े हैं, हमारी समीक्षात्मक दृष्टि पुष्ट हो सकती है

'अभिनवभारती' के इस हिंदी भाष्य से अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण का व्यापक प्रचार होगा। वह इसलिये भी कि अभिनवगुप्त का चिंतन आधुनिकों के बहुत अनुकूल है। आचार्य विश्वेश्वर ने अपने भाष्य में नाट्यशास्त्र पर अब तक उपलब्ध समस्त सामग्री का विनियोग किया है। उदाहरण के लिये रंगमंच संबंधी नाट्यशास्त्रीय धारणाओं के संबंध में काफी विचार हुआ है और वे अब भी विवाद्य हैं। पर लेखक ने उन्हें समीकृत करते हुए अपनी व्याख्या भी उपस्थित की है। अनुकृति के सिद्धांत के संबंध में भी अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार की गहन व्याख्या की है उससे आज के विद्वान् बहुत कुछ सीख सकते हैं। रस संबंधी उनकी व्याख्या के उपलब्ध हो जाने पर उसपर पुनर्विचार हो सकता है। जिस तरह बुचर ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र पर विस्तारपूर्वक गहन विचार किया है उसी प्रकार अभिनवगुप्त के एक एक सूत्र के संबंध में नवीन विचार करने की आवश्यकता है।

रामचंद्र गुणचंद्र का नाट्यदर्पण भी नाट्यशास्त्र संबंधी सुख्यात ग्रंथ है। इस ग्रंथ का मुख्य आधार भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। पर जहाँ नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती विश्वकोश हैं वहाँ नाट्यदर्पण एक क्षुद्र अंश पर आधृत रचना। अभिनव के गहन चिंतन और नाट्यशास्त्र के पांडित्यपूर्ण अभिनिवेश का यहाँ अभाव मिलेगा। यद्यपि रामचंद्र गुणचंद्र ने अपनी मौलिकता का दावा किया है पर उन्होंने मुख्य रूप से नाट्यरूढ़ियों का ही प्रतिपादन किया है। भरत से जहाँ तहाँ मतभेद अवश्य प्रकट किए गए हैं पर वे गूढतर स्थलों से नहीं उलझे हैं। संभवतः इसी लिये उनके समसामयिक किसी विचारक ने उनको गतानुगतिक कह दिया था। फिर भी इस ग्रंथ का आपेक्षिक महत्व है। आचार्य विश्वेश्वर ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका सहित इसकी जो व्याख्या की है उसके लिये वे स्मरणीय हैं। इन दोनों ग्रंथों के मूल प्रेरक स्रोत डा० नगेंद्र भी बधाई के पात्र हैं। उनकी शास्त्रनिष्ठा से प्रेरित होकर ही ये ग्रंथ हिंदी में अनूदित और व्याख्यायित हो सके हैं।[1]

—बच्चनसिंह

कथासरित्सागर

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के तत्वावधान में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों के जो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं उनमें से एक कथासरित्सागर भी है। सागर की भाँति इसकी कथाओं का प्रसार और प्रभावव्याप्ति पृथ्वी के दोनों गोलार्धों में है।

१. **हिंदी अभिनवभारती** संपादक तथा भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, प्रकाशक हिंदीविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मू० २५.०० रु०। **हिंदी नाट्यदर्पण** व्याख्याकार वही, प्रकाशक वही, मू० २२ .०० रु०।

वस्तुतः यह पैशाची भाषा में लिखे गए गुणाढ्य के 'बड्डकहा' का सार है —'बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम् ।' गुणाढ्य की बृहत्कथा प्राप्य नहीं है। पर उसके कई 'वाचन' मिलते हैं — बुधस्वामिन् का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', संघदासगणि की 'वसुदेवहिंडी', क्षेमेंद्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव का कथासरित्सागर। कथासरित्सागर में १८ लंबक और १२४ तरंगें हैं। यह छः लंबकों का प्रथम खंड है। छः छः लंबकों के दो खंड अभी प्रकाशित होने को हैं। इसके हिंदी अनुवाद की यह विशेषता है कि जो सरलता मूल ग्रंथ मे दिखाई देती है वह इसमे भी सुरक्षित है। अनुवाद के साथ साथ मूल संस्कृत का संनिवेश इसे पूर्णता प्रदान करता है। खेद है कि इसके अनुवादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत का असामयिक अवसान हो जाने के कारण सब लंबक अनूदित नहीं हो सके। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की शोकपूर्ण भूमिका से ग्रंथ की उपादेयता बढ गई है। शेष दोनों खडों के प्रकाशित हो जाने पर इस सबध मे अन्य दृष्टियों से कार्य किया जा सकता है। कम मूल्य पर इसके प्रकाशन के लिये बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की जितनी सराहना की जाय थोड़ी है।[1]

—बच्चनसिंह

आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना

पुस्तक मे हिंदी व्याकरण और रचना संबधी आवश्यक विषयों के अतिरिक्त अलकार, छद, सामान्य ज्ञान, अगरेजी हिंदी शब्दावली भी समाविष्ट है। लेखक के शब्दों म पुस्तक का पहला उद्देश्य हिंदी के छात्रों को हिंदी व्याकरण की रूक्षता और अनावश्यक नियमबद्धता के कटु अनुभव मे बचाना है और दूसरा उद्देश्य है अहिंदी प्रातों के हिंदी छात्रों को हिंदी की प्रकृति और प्रवृत्ति से परिचित कराना ताकि उन्हे हिंदी सीखने मे विशेष कठिनाई न हो। शैली और विषयसूची दोनो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंदी और अहिंदी दोनो प्रकार के पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक मे कुछ न कुछ उपादेय अवश्य मिलेगा।

हिंदी व्याकरण के एतिहासिक शोध की वर्तमान स्थिति मे यत्र तत्र मतभेद की गुंजाइश है किंतु कुछ बातें प्रयोग और परिनिष्ठित स्वरूप को सामने रखकर विवाद से परे रखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, पृ० १२३ पर 'मोहन सोचा' में क्रिया के साथ 'ने' को वैकल्पिक माना गया है। पृ० १२४ पर 'सेना कई लड़ाइयाँ लड़ीं' मे भी 'ने' की यही स्थिति मानी गई है। प्रयोग की मात्रा या स्तर किसी भी दृष्टि से यहाँ 'ने' का विकल्प मानने मे कठिनाई है। पृ० १३२ पर संस्कृत शब्दों के लिंगनिर्णय के

१. कथासरित्सागर (प्रथम खंड) – महाकवि सोमदेवभट्टविरचित, अनुवादक पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य १०.०० रु०।

प्रसंग मे प्रो० श्रीवास्तव का एक नियम यहाँ उद्धृत है, 'अप्राणिवाचक संस्कृत शब्द यदि अकारांत हों तो पुलिंग, आकारांत हों तो स्त्रीलिंग—बस मेरे इन दो नियमों से काम चल जायगा। इन दो नियमों को हम नक्षत्रों, पर्वतों, नदियों, तिथियों और धातुओं के वर्गों पर भी लागू कर सकते है, उनके लिये पृथक् नियम बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।' यहाँ 'देह', 'पुस्तक', 'शरण' आदि अकारांत अपवादों का उल्लेख न करना खटकता है। 'शब्दों एव वाक्यों की सामान्य अशुद्धियाँ' मे दिए गए कुछ उदाहरणों पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। 'आपका पत्र धन्यवाद सहित मिला'—अशुद्ध। 'आपका पत्र धन्यवाद पूर्वक मिला'—शुद्ध। तथ्य यह है कि पत्र न तो 'धन्यवादसहित' ही मिल सकता है और न 'धन्यवादपूर्वक' ही। अपेक्षित अभिव्यक्ति होगी 'पत्र मिला। धन्यवाद।' अन्यत्र 'पियो' और 'जियो' को तो अशुद्ध माना गया है और 'पीओ' और 'जीओ' को शुद्ध। वस्तुतः तथ्य ठीक इसके विपरीत है। खड़ी बोली हिंदी की वर्तमान ध्वनिप्रवृत्ति मे ई-ओ, ई-आ जैसे दीर्घ स्वर किसी पद मे इसी क्रम से पार्श्ववर्ती होकर नहीं आते। 'किया', 'सिया' आदि पद भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक है। इनके स्थान पर भी 'कीया' और 'सीया' को परिनिष्ठित नहीं माना जा सकता। लेखक ने 'वर्तमान' और 'वर्त्तमान' इन दो रूपों मे 'वर्तमान' को ठीक समझा है। संस्कृत मे दोनों स्वीकृत है। हिंदी मे अन्यथा सोचने का कोई कारण नहीं। आशा है लेखक का ध्यान उक्त प्रकार के कुछ संस्कारयोग्य और विचारणीय स्थलों की ओर अवश्य जायगा। यों पुस्तक की कुल पठनीय सामग्री को देखते हुए ऐसे अंश अधिक नहीं है।

आलोच्य कृति मे रचना आदि से संबंधित सामग्री सामान्य पाठकों और परीक्षार्थियों की दृष्टि से अधिक सूझ बूझ की बन पड़ी है एवं काव्यविवेचन का प्रसंग एक उचित साहित्यिक पूरक। हिंदी का औसत शिक्षार्थी इस प्रयास से लाभान्वित होगा।[1]

—पूर्णगिरि गोस्वामी

अजय की डायरी

प्रूस्त एवं हेनरी जेम्स को समर्पित इस उपन्यास मे कथावस्तु को उपन्यासद्वय की भाँति जीवनचेतना के जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य मे ग्रथित करने का प्रयास किया गया है तथा मानवमन की विविध परतों को जिन मूर्त बिंबों एवं संवेदनापूर्ण भाषा के

१. **आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना**—प्रो० वासुदेवनंदनप्रसाद, हिंदीविभाग, गया कालेज गया, प्रकाशक भारतीभवन, पटना; पृ० ४०१, मू० ४.५० रु०।

माध्यम द्वारा उद्घाटित करने की चेष्टा की गई है, हिंदी कथासाहित्य के लिये वे स्वयं में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। लेकिन जो इसकी उपलब्धियाँ हैं, प्रकारांतर से वे ही इसकी अपनी सीमाएँ भी बन जाती हैं। चेतना के विविध स्तरों की सूक्ष्मतम विवृत्ति मे कथानक के कई महत्वपूर्ण सूत्र बिखर गए हैं और जीवनदर्शन के महत्ताप्रतिपादन की चेष्टा मे उपन्यास चिंतन मनन से कई स्थलों पर बोझिल हो उठा है। फलतः मनोरंजन मात्र के लिये पढ़नेवाले पाठकों को यह श्रमसाध्य उपन्यास कठिन और दुरूह सिद्ध होगा।

भौतिक प्रगति में आज का मनुष्य पहले से काफी आगे और कायिक उपलब्धियों म वह सापेक्षतया अधिक समृद्ध है। लेकिन इन सबके बावजूद वह भीतर से अधिक खोखला होता जा रहा है। उसका जीवन भौतिक उद्भ्राति, नैतिक विघटन एव मानसिक तनाव की सीमारेखाओं के बीच अपने 'अस्तित्व' की निरर्थकता का बोध करने लगा है। पर उपन्यास का नायक अजय जीवन के अस्तित्व से ही सतुष्ट नहीं, उसे 'सार्थक अस्तित्व चाहिए, ऐसा अस्तित्व जो निरतर उच्चतर परिणति की ओर उन्मुख हो।' उसकी दृष्टि में 'मनुष्य की भौतिक प्रगति और सस्थाएँ साधन हैं, साध्य नहीं।' साध्य मनुष्य की चेतना, उसका चेतनामूलक अंतर्जीवन है। 'इसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी 'डेस्टिनी' को पहचाने जो व्यक्ति की ऊँची सभावनाओं की चरम परिणति है।' अपनी मान्यताओं की पुष्टि म वह मूलतः दो दर्शनधाराओं को समेटता है — अस्तित्ववादी एव सास्कृतिक मूल्यवादी। एक के माध्यम से वह जीवन की सत्ता को ठोस के रूप मे स्वीकार करता है और दूसरे के आधार पर उसकी सार्थकता का बोध करता है।

किसी मान्यता को लेकर बौद्धिक धरातल पर विचार विमर्श करना एक बात है, उसपर आस्था रखना दूसरी बात और आस्था रखते हुए उसे जीवन मे उतारने की चेष्टा करना, यह एकदम अलग बात है। अजय अपने वार्तालाप और चिंतन मनन म जिस 'व्यक्तित्व' की पूर्णता की बात प्रायः करता मिलता है, उसे जीवन के व्यावहारिक स्तर पर उतरते हम कभी नहीं देख पाते। सिद्धांत एव व्यवहार की एकतानता की सिद्धि के लिये जो चारित्रिक दृढ़ता अपेक्षित है, उसका उसम पूर्ण रूप से अभाव है। इसी लिये हेम को वह न तो खुलकर स्वीकार कर पाता है और न अपनी पत्नी से समझौता ही। वह पलायन कर विदेश चला जाता है और जब लौटकर आता है तो उसकी पत्नी को दूसरे का गर्भ रह जाता है और हेम का दूसरे से विवाह हो जाता है। सच तो यह है कि अजय अपनी ही कुंठा, अपने ही अनुभवविकारों के दायरे मे अवश सा चक्कर खाता रहता है। उसमे न तो अस्तित्ववादियों की भाँति 'क्षण' की सत्ता को पूरी तरह स्वीकार कर जीने की क्षमता है और न सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति वह दृढ़ आसक्ति, जिसके सहारे वह अपने पक्ष की मानसिक

स्वीकृति को जीवनस्तर पर भी उतार सकने की शक्ति प्राप्त कर सके। उसका जीवन खंडित है। बुद्धि के स्तर पर वह जो जीवन यापन करता है, जीवन के सामाजिक एवं व्यवहारिक पक्ष से उसका कुछ भी सामजस्य नहीं दीखता।

उपन्यासकार बार बार चेतना एवं सास्कृतिक मूल्यों की उच्चतर परिणति की बात उठाता है, पर वस्तुतः उसकी संपूर्ण वृत्ति प्रेमप्रसगों पर केंद्रित है। अजय भीतर से हमेशा अनुमान करता है कि 'प्यार मेरे अस्तित्व की बड़ी जरूरत थी और है।' प्यार को वह व्यक्तित्व की ऊँची समावनाओं का पूरक मानता है अतः पत्नी ऐसी होनी चाहिए जो जीवन को गति ही नहीं प्रगति भी दे, तीखे सवेदन ही नहीं, चिंतन और संकल्प भी दे। इसके लिये आवश्यक है कि विवाह के पहले पतिपत्नी एक दूसरे के व्यक्तित्व की समावनाओं से पूरी तरह परिचित हों। पर यह संभव कैसे हो? अमेरिका मे जाकर वह 'डेटिंग' प्रथा को देखता है और इसके लिये उसे उपयुक्त पाता है। पर भारत की स्थिति तो ऐसी है कि इला जब कुछ सहयोगियों के साथ कश्मीरयात्रा पर निकल जाती है तो उसका भावी पति संतोषकुमार शंका मात्र के आधार पर उसे अपमानित करने से नहीं चूकता, यहाँ तक कि रिश्ते को तोड़ भी देता है। इस रूढिवादिता के विरोध से किसे इनकार हो सकता है, पर उसी जोश में 'प्रेयसी' (प्यार) और पत्नी (विवाह) को एक ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य एवं भाव-संदर्भ म देखना कहाँ तक उचित है? अपनी पत्नी शीला मे भी तो विवाह के पूर्व उसे आकर्षण मिला था। यही क्या निश्चित है कि शादी के उपरात प्रेयसी 'हेम' का आकर्षण वैसा ही बना रहेगा? क्या मात्र आकर्षण प्रेम को स्थायित्व प्रदान करता है?

कोई भी व्यक्ति अपने मन और अपने ढग से प्यार करने के लिये पूरी तरह स्वतंत्र है पर जब वह विवाह के लिये प्रस्तुत होता है तब उसके व्यवहार म अपने ही मन का नहीं किसी और के मन का भी खयाल करना पड़ता है। पर अजय तो प्रारभ से ही आत्मप्रेमी है। अपने स्वार्थ के दायरे मे वह इतना सकुचित है कि विवाह किसी से भी क्यों न करे, वह सफल नहीं हो सकता। कारण, उसकी धारणा है कि 'दूसरे के प्रति मेरा कर्तव्य वहीं तक है जहाँ तक मेरी ऊर्ध्व गति मेरे गुणात्मक विकास की बाधक नहीं।' वस्तुतः उपन्यास का नायक 'व्यक्तित्ववादी' कम और 'व्यक्तिवादी' अधिक है, जो सामाजिक जीवन की मर्यादा, पति पत्नी के समझौते और कभी सार्थक परपरा की शक्ति की उपेक्षा म भी अपनी सार्थकता ढूँढ़ता है।

उपन्यास का कथानक मध्यवर्ग के सदर्भ मे गठित है। कई स्थलों पर मध्यवर्ग की कुछ स्थितियो का मार्मिक विवरण उपलब्ध है और कहीं कहीं उसपर सटीक व्यंग्य भी मिलते है, विशेषकर महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के आचार्य एवं प्राध्यापकों को लेकर मिस्टर 'पी' का चरित्र 'टाइप' के रूप मे द्रष्टव्य है। उपन्यासकार चिंतक भी है अतः मध्यवर्गीय दुर्बलताओं पर दार्शनिक आवरण देने का उसने

यत्र तत्र व्यर्थ प्रयास भी किए हैं। अजय का सचेत मन यह कहकर संतोष करता है कि उसे तो हेम की आत्मिक निकटता चाहिए, पर उसका अवचेतन मन चुंबन (किस) की बार बार आकांक्षा करता है पर अपने साहस के अभाव में इस सिद्धांतवाक्य के पीछे अपनी दुर्बलता को छिपाने का प्रयत्न करता है—'जो चीज दी नहीं गई है, उसे लेना एक प्रकार की बेईमानी है।' गोया एक भारतीय स्त्री आगे बढ़कर स्वयं चुंबन का आदान प्रदान करे और पुरुष अपने स्थान पर स्त्रीत्व की मर्यादा का निर्वाह करे!

चेतना की विविध परतोंकी सूक्ष्म, विकृत एव संवेदना की हल्की छाप को मूर्त बिंबों एव विवरणात्मक घटनाप्रसंगों द्वारा भाषाबद्ध करने मे उपन्यासकार पूरी तरह सक्षम रहा है। जगत् की स्थूल वर्णनात्मकता को छोड़कर जब कभी उपन्यासकार अंतःकरण की अतल गहराइयों में उतरकर चेतना के प्रवाह को पकड़ने की कोशिश करता है, डायरी कविता के निकट पहुँच जाती है। स्टीफेन स्पेंडर ने लिखा है—'पात्रों की एक साथ कई स्तरों पर अभिव्यक्ति के लिये कविता ही सर्वोत्तम माध्यम है।' एक ही वस्तु के विविध 'शेडों' का वर्णन भी बड़ी सफाई से किया गया है—यथा जब हेम अपने साथियों के बीच अजय से बोलती है और जब वह निकट आकर निजी ढंग से उससे कहती है (पृ० ११०) तो उसके स्वरों के रूप-गंध मे जो अंतर आ जाता है उसे कोई समर्थ लेखक ही अभिव्यक्त कर सकता है।

भाषा मे प्रवाह है, लेकिन गति के साथ बहते बहते यदाकदा भाषा की अशुद्धियों एव प्रूफ की असावधानी से कोमल तनु हिल उठते हैं। उदाहरणस्वरूप—'पर हेम'ने'एक शब्द नहीं बोली'(पृ० १६०),'एक प्रोफेसर' के' तुलनात्मक संस्कृति ...' (पृ० २२७)। प्रूफ की लापरवाही तो और भी खल जाती है यथा, इगोटिस्टिक (इगोइस्टिक पृ० ३४–३५), पद्मजा (यह सजा पृ० ४३), पीने छै (पौने ६ पृ० १७६), शिला (शीला पृ० २११-१२), फलफल (फलफूल) आदि। भाषा की स्वाभाविकता एवं चारित्रिक गुणों के सफल निर्देश के लिये अगर अंग्रेजी शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग को आवश्यक समझा गया, तो उसमें आपत्ति नहीं। पर कुछ शब्दों का हिंदी अनुवाद और कुछ को ऐसे ही छोड़ देने से शैली की एकरूपता में व्यवधान पड़ता है। अगरेजी के वाक्य के वाक्य वैसे ही रख दिए गए हैं यथा—'यू आर टू सोफिस्टिकेटेड दीपिका, टुद प्वाइंट आफ आर्टिफिशियलटी' (पृ० १३५), 'हाउ एक्सक्विजिट्ली चार्मिङ्, इट सीम्स टु बी ऐन एन्चायंड प्लेस।' (१४५) आदि। अगर इनका अनुवाद भी दे दिया गया होता, तो अधिक अच्छा होता।[1]

—रवींद्रनाथ श्रीवास्तव

१. अजय की डायरी—डा० देवराज, प्रकाशक राजपाल ऐंड संस, दिल्ली, मूल्य ५.०० रु०।

हिंदी नवलेखन

'अपने समवर्ती साहित्य के बारे में कुछ लिखना खतरे से खाली नहीं होता' इस तथ्य से भलीभाँति परिचित होकर ही लेखक ने उस चुनौती को स्वीकार किया है और वह भी इसलिये कि उस जनश्रुति को वह नहीं मानना चाहता 'जिसके अनुसार समकालीन रचनात्मक उन्मेष को ठीक ठीक नहीं परखा जा सकता।' समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का समुचित आकलन संभावना से परे नहीं, पर इसके लिये आवश्यक है कि लेखक में समीक्षक की तीक्ष्ण दृष्टि तो हो ही, रचनात्मक साहित्यकार की वह भावात्मक अनुभूति भी हो जो सामाजिक वातावरण के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन को लक्षित कर सके। लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा कर इस पुस्तक के लेखक ने जिस सीधे सादे ढंग से इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है, क्या उससे सारी 'समसामयिक प्रवृत्तियों को ठीक ठीक परखा जा सकता है ?'

किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति को भलीभाँति समझने के लिये उसके ऐतिहासिक विकास का निदर्शन आवश्यक होता है। पर नवलेखन की पृष्ठभूमि की विवेचना करते समय लेखक की दृष्टि किसी विशिष्ट साहित्यिक धारा के ऐतिहासिक विकास अथवा परिस्थितियों के बदलने से बदले हुए विविध मानवमूल्यों की साहित्यिक परिणति की ओर नहीं रहा है। वह तो इतना ही संकेत देकर संतुष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक क्रमविकास की दृष्टि से 'हिंदी नवलेखन का घनिष्ठ संबंध प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद से रहा है।' जहाँ तक छायावाद का प्रश्न है 'नवलेखन उससे बहुत कुछ असंबद्ध होते हुए भी उसकी कुछेक प्रवृत्तियों से अलग नहीं किया जा सकता।' परंपरा के मूल्यांकन का अर्थ कालक्रमविकास का निर्देशन मात्र तो नहीं होता—जैसा लेखक ने माना है।

आलोचन किसी साहित्यिक रचना के बाह्य स्वरूप की परिचयोक्ति से हटकर गहरी दृष्टि से किया गया मूल्यांकन भी है। 'नयी कविता' के मूल्यांकन की जगह पर लेखक कवियों के परिचयात्मक विवरण तक ही रह गया है। उसमें भी अधिकांश स्थलों पर अंतर्विरोधी बातें कही गई हैं अथवा विदेशी साहित्य का प्रमाण देकर उलझी दृष्टि को और भी उलझाने का प्रयास किया गया है। लेखक ने एक स्थल पर लिखा है—'उनका (शमशेर का) दृष्टिकोण कदाचित् अब भी मूलतः प्रगतिवादी है...' एक दूसरे स्थल पर 'उनकी कोमल काव्य प्रकृति प्रगतिवाद की परुषता के साथ मेल नहीं खाती।' प्रश्न है, शमशेर मूलतः प्रगतिवादी हैं या कोमल काव्य के प्रतिनिधि कवि ! मूलतः वे कुछ भी क्यों न हों पर उनके बिंब लेखक को अतियथार्थवादी चित्रों का स्मरण दिलाते हैं और शिल्पविधान बहुचर्चित कवि कमिंग्ज का।

केवल अंतर्विरोधी वाक्यों तक ही पुस्तक सीमित हो, ऐसी बात नहीं। कई स्थलों पर पूर्ण निष्ठा के साथ भी बातें कही गई हैं। लेखक का कहना है कि 'कहानी में किसी भी दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयोग प्रायः नहीं हुए हैं।' यह बात नहीं कि वह नई कहानी के लेखकों के नाम से परिचित नहीं — कारण, उन्होंने प्रायः सभी छोटे बड़े नए कहानीकारों के नाम गिना दिए हैं। पर आश्चर्य है कि इसके बाद भी नई कहानी ने समाज के जिन विभिन्न नए स्तरों का स्पर्श किया है और नई भावभूमि की जिन अनेक परतों को अपनी सीमा मे प्रभावोत्पादक ढग से बाँधा है, उसे किस प्रकार वह नकार गया है! कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, अमरकांत, शेखर जोशी, मन्नू भंडारी की कुछेक कहानियाँ भी जिन्होंने पढ़ी हैं वे कैसे यह विश्वास कर लें कि 'प्रेमचंद के बाद जैनेंद्र (पत्नी - जाह्नवी) और अज्ञेय (रोज) के शिल्प मे जो नवीन विकास दिखाई दिए थे, हिंदी का कहानी - साहित्य उनसे आगे नहीं बढ़ सका।'

लेखक का यह मत है कि 'हिंदी नवलेखन की साहित्यिक पृष्ठभूमि का संदर्भ तब तक अधूरा रहेगा जब तक अगरेजी तथा यूरोपियन नवलेखन की रूपरेखा नहीं समझ ली जाती।' जो पाठक 'इनकांउटर' और 'लदन मैगजीन' नहीं पढ़ते, उनके लिये विदेशी साहित्य की प्रगति की सामान्य जानकारी इस पुस्तक मे हो सकती है। इस सदर्भ मे चतुर्वेदी जी के इस दृष्टिकोण की सराहना करनी पड़ेगी कि विदेशी साहित्य का अध्ययन हिंदी साहित्य के सदर्भ मे तुलनात्मक दृष्टि के लिये प्रस्तुत करना चाहिए और यही कारण है कि अन्य आलोचकों की तरह उसने हिंदी के विविध साहित्यिक आंदोलनों को सीधे विदेशी उधार या प्रभाव के रूप मे नहीं देखा है। 'डिक्लेरेशंस' और 'धुरीहीनता', 'न्यू सिग्नेचर्स' और 'तारसतक', लेमन द्वारा संपादित बी. बी. सी. पत्रिका और अज्ञेय की आकाशवाणी पत्रिका आदि की तुलना करने पर उनमे कुछ साम्य भले ही दिखाई दे जाय, पर ये उनके अनुवाद नहीं और न उनमें कोई सीधा सबध ही स्थापित किया जा सकता है।

हिंदी एव विदेशी नवलेखन के साहित्यकारों एवं उनकी कुछेक महत्वपूर्ण कृतियों के नाम की जानकारी की दृष्टि से यह पुस्तक उस सामान्य पाठक के लिये अत्यंत उपयोगी है जो हिंदी - अगरेजी की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के ज्ञान के साथ अपने को संबद्ध नहीं रख पाता।

— रवींद्रनाथ श्रीवास्तव

हिंदी नवलेखन— रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० २४८, मूल्य ४.०० रु०।

अंकित होने दो

अजितकुमार कृती साहित्यकार हैं। इनकी विश्रुति नए कवि के रूप में है यानी नई कविता के रचनाकार के रूप में। तीसरे सप्तक के संभाव्य कवियों में इनका नाम था, किंतु कुछ विशेष कारणवश इन्हें तीसरे सप्तक में स्थान न मिल सका। 'अंकित होने दो' की संपादकीय भूमिका में ऐसा संकेत है। मतलब यह कि अजितकुमार मूलतः कवि हैं और अच्छे इसलिये कि इनके प्रथम कवितासंग्रह 'अकेले कंठ की पुकार' का काफी स्वागत हुआ है। पुराने और नए दोनों ही अजितकुमार की रचनाओं को पसंद करते हैं। इसका कारण शायद यह है कि अजित ने अपने को परंपरा से तोड़ा नहीं है और साथ ही सांप्रतिक मानवीय चेतना के प्रति जागरूक हैं।

'अंकित होने दो' 'नये साहित्य स्रष्टा ग्रंथमाला' का तीसरा ग्रंथ है जिसके संपादक हैं श्रीसच्चिदानंद वात्स्यायन। वात्स्यायनजी श्रेष्ठ कृतिकार के साथ ही एक सुरुचिसंपन्न संपादक भी हैं, इसलिये उनके द्वारा संपादित ग्रंथ का वैसे भी एक स्वतंत्र महत्त्व है। नई प्रतिभा को पहचानना, स्वीकारना और उसे मान्यता देना तथा उसके कृतित्व के प्रकाशन के लिये पूर्ण सक्रिय रहना एक बड़ी बात है। यह गुण वात्स्यायनजी के व्यक्तित्व में है। वे सदैव नई प्रतिभा की टोह में रहते हैं। अजितकुमार एक नए साहित्यकार हैं जो न केवल कविता बल्कि कहानी, रेखाचित्र, डायरी और ललित निबंध भी लिखते हैं। कभी कभी विचारक के रूप में भी सामने आते हैं। 'अंकित होने दो' उनके समग्र व्यक्तित्व को प्रस्तुत करता है और साथ ही इस बात की विज्ञप्ति देता है कि नया रचनाकार अपने परिप्रश्न के प्रति कितना सजग है। अपने इर्द गिर्द घटने वाली छोटी छोटी घटनाओं का रचनाकार के मन पर गहरा असर होता है और उन अनुभूतियों को वह अपनी डायरी में टाँक लेता है। अनुभूतिप्रवणता अजितकुमार की रचना की एक मूल विशेषता है।

अजितकुमार की भावुकता की प्रायः चर्चा की जाती है। भावुकता एक ही साथ निराशा और संवेदना को स्पर्श करती है। मैं इसको अजितकुमार की भावुकता की उपलब्धि मानता हूँ। यद्यपि इनकी रचना में निराशा का स्वर भी कम नहीं है। 'दीवारों के घेरे' दीवारों से कहते हैं — 'अपने घेरे और......तनिक और सीमित कर लो, अपने दायरे और ... थोड़ा और सीमित कर लो — जिसमें और कहीं नहीं तो तुम्हारी ही शरण में सुरक्षित रह सकूँ।' इसी तरह (दिन को रात बनाकर) अपने कमरे की खिड़कियों को बंद कर दिन में सपना देखना उन्हें प्रिय है। किंतु उनकी रचनाओं में निराशा के स्थान पर एक विशेष प्रकार की उदासी का भाव है — एक ऐसी उदासी जो संवेदना को जन्म देती है। अजितकुमार चाहे गद्य लिखें चाहे पद्य उनकी रचनाओं में संवेदना अक्षुत है और उनकी अधिकांश रचनाओं में

उनका कवि ही प्रमुख है। सहजता उनकी अपनी विशेषता है। जाड़े की बरसात का एक चित्र देखिए — 'जाड़े की बरसात। धीमी रफ्तार से बरसती बूँदें। पाकर की छाँह में बसेरा लेते पंछी। अँधेरे में काँपती हुई परछाइयाँ। गूलर के पत्तों से झरती हुई थकी बूँदें। आसमान में घिरे, सपनों की गोद में झूमते हुए बादल। उत्तर के काले आकाश की तेज बिजलियाँ। बूँदों से छुपे हुए ठिठुरते आम के ठूँठ। सूनी सेज-वाली रात। ऊजड़ खेतों में जागते हुए सियार। दुनिया के सोते हुए इनसान। काँपती, सिहरती और अपने में सिमटती सी बोझिल रात। और यह जाड़े की बरसात।'

अजितकुमार की रचनाओं की दूसरी प्रमुख विशेषता है जातीय गंध। जातीय वैशिष्ट्य का उन्हें सही बोध है। उन्होंने आधुनिकता को फैशन के रूप में नहीं अपनाया है। कदाचित् इसी लिये अपनी परंपरा से उन्हें प्यार है और पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यिकों को 'कूड़े सा तजकर' वे आगे बढ़ना नहीं चाहते क्योंकि उनका विश्वास है कि 'जो हमें 'प्राण' देकर गये हैं' — वे हमसे कहीं अधिक जीवित हैं। वे जीवित रहेंगे। 'आज हम उन्हें भले ही विगत सोच लें, पर वह दिन भी आएगा जब हम जानेंगे कि जिनका दिया हुआ 'जीवन' हम भोग रहे हैं वह तो 'वे' ही थे।' अजितकुमार का यह आस्थापूर्ण स्वर बिल्कुल अपना है। और इस स्वर के पूरे आस्वाद के लिये 'अंकित होने दो' पर एक दृष्टि आवश्यक है जिसके लिये मैं प्रबुद्ध पाठकों को आमंत्रित करता हूं।

अंत में रचनाकार से उसी के शब्दों में कहना चाहता हूं — 'मित्र! आनेवाले प्रत्येक क्षण के साथ वयस्क होते चलो। पुराने होते चलो। जो 'सर्वश्रेष्ठ' है वह अब भी 'होने' को है। झिझको मत कि 'सब कुछ' तुममें व्यक्त होकर तुम्हें रिक्त किये जा रहा है। डरो मत कि 'बहुत कुछ' — वर्तमान होकर तुम्हें अतीत बनाये देता है। याद रखो, याद करो — अंतिम ... ... जिसके हेतु प्रथम की रचना हुई थी ...।'[1]

—कृष्णबिहारी मिश्र

मानव मूल्य और साहित्य

धर्मवीर भारती ने 'मानव मूल्य और साहित्य' में मानव मूल्य के संदर्भ में साहित्य की परीक्षा की है। आधुनिक युग के पूर्व जिस मानवोपरि अलौकिक सत्ता,

१. अंकित होने दो—अजितकुमार, संपादक सच्चिदानंद वात्स्यायन, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० १६१, मू० ४.०० रु०।

ईश्वर, में मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई थी, वह क्रमशः अवमूल्यित होता गया। आज आखिरी साँस ले रहा है। उसके स्थान पर मानव के गौरव का उदय हुआ और वह स्वयं मूल्यवान् समझा जाने लगा। इसके साथ अनेक भौतिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य सांस्कृतिक संकटों में फँसता गया। उसके पूर्व निश्चित मूल्य विध्वस्त हो गए। किंतु वह नया मूल्य बना नहीं पाया। भारती ने विश्वसाहित्य की प्रक्रिया में हिंदी को रखकर उसके द्वारा प्रस्तुत नए मूल्यों को आँकने का प्रयास किया है।

अब अंतरात्मा का अर्थ बदल गया। एक समय धर्मग्रंथों की आचार-संहिता ही अंतरात्मा की आधारभूमि थी। 'अंतरात्मा मानवीय अंतर में स्थित कोई दैवी या अतिप्राकृत शक्ति न होकर वस्तुतः मनुष्य के गौरव को प्रतिष्ठित करने और उसकी निरंतर रक्षा करने के प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जाग्रत अंतरात्मा का प्रमाण है।' अंतरात्मा का सबसे सहायक तत्व विवेक है। मानवीय गौरव का अर्थ है मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत और दायित्वयुक्त मानना। वह अपनी नियति और इतिहास का निर्माता है। इसके लिये उसके विवेक और आत्मबल को अपराजेय मानना आवश्यक है। इसके साथ 'आत्मोपलब्धि' को भी जोड़ लेना चाहिए क्योंकि इससे विवेचन के अभाव में उपलब्धियों का आकलन संभव नहीं होगा। आत्मोपलब्धि का क्षण वह है जब हम 'अर्थहीन शून्यता या अयाथार्थमूलक अनस्तित्व से मुक्त कर अपने को सार्थक पाते हैं।'

मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिये मनुष्य मनुष्य की समानता—नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समानता को वे आवश्यक ठहराते हैं। लेकिन यह समानता स्थापित कैसे हो? इसका उत्तर वहाँ नहीं है। मार्क्सवाद और फ्रायडवाद मनुष्य को एक प्रकार की नियति का दास बनाते हैं, पहला उसे इतिहासचक्र से बाँधता है तो दूसरा अवचेतना से। वे मानवीय गौरव की स्थापना में सफल नहीं कहे जा सकते। मानवीय गौरव का स्थापन अंतरात्मा के निर्देश और विवेकपूर्ण आचरण द्वारा संभव है। सबकी आत्मा का निर्देश एक नहीं हो सकता और विवेक की दिशाएँ भी विपरीतमुखी हो सकती हैं। तो भरोसा किस पर किया जाय? मार्क्सवादियों के अनुसार गांधीजी प्रतिक्रियावादी थे। यही नहीं उनका जीवनदर्शन भारतीय परंपरा के अनुकूल नहीं था। उनका दावा यहीं नहीं खत्म होता। वे स्वयं को भारतीय परंपरा में मानकर अपने को उसका एकमात्र संरक्षक भी घोषित करने लगे हैं। और इन विवेकवादियों के मतानुसार उन्होंने देश को हिप्नोटाइज्ड कर दिया, जनता अपनी अंतरात्मा और विवेक पर आश्रित नहीं हो पाई। उस शार्टकट के कारण उसे महा-मानव की प्रतिभा से चकित होना पड़ा। व्यक्ति को अपने विवेक, अपने दायित्व का बोध नहीं हुआ। इसके संबंध में इतना ही पूछना है कि क्या हिप्नोटाइज्ड जनता

स्वराज्य ले सकती है। इसके बाद सवाल उठता है कि यदि जनता ने स्वराज्य लिया तो क्या आज उसका तंत्र है? इसको स्वीकार करना उतना ही कठिन है जितना इनकार करना। तो आज का साहित्यकार महामानव और लघुमानव का भेद मिटाना चाहता है। उसकी इस आकांक्षा के प्रति संदेह क्यों किया जाय?

पर लघुमानव की मुक्ति क्या है? लेखक ने उसकी बाह्य मुक्ति की अपेक्षा आंतरिक मुक्ति पर ज्यादा जोर दिया है, गोया दोनों मुक्तियाँ अलग अलग हैं। इन सभी बातों का दायित्व व्यक्ति के स्वतंत्र विवेक पर है। व्यक्ति के विवेक पर यह आग्रह ही नई मर्यादा का उदय है। सार्त्र द्वारा निरूपित स्वतंत्रता, वरण, मूल्यचेतना आदि को उसी रूप मे – अनास्था के रूप में इन्हें स्वीकार्य नहीं है। पर सार्त्र अपने को किसी से कम मानववादी नहीं मानता। वस्तुतः स्वतंत्रता, मूल्य आदि शब्द और अर्थ उसी के हैं जिन्हे नई पीढ़ी के लोग अपना रहे हैं। आज का व्यक्तिवादी व्यक्तिवाद से भिन्न है। यह व्यक्तिवाद व्यक्तिवाद (पर्सनलिज्म) कहा जा सकता है जो दायित्वपरक, सर्जनात्मक और विकासोन्मुख है। जब कि व्यक्तिवाद (इंडिविजुअलिज्म) अपनी संकीर्णताओं म सीमित है। यह समाजवाद का विश्वासी, सप्रदायनिष्ठ समाजवाद का नहीं। नया साहित्य चाहे उपन्यास हो चाहे कविता, व्यक्तिस्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा चाहता है—ऐसे स्वातंत्र्य की जो दायित्वयुक्त हो। आंतरिकता पर इतना बल कि समाज से कटने का खतरा उत्पन्न हो जाय, खुद खतरनाक है।

—अजीत

वाजिदअलीशाह

इस उपन्यास मे वाजिदअलीशाह के समय की अंगरेजी नीति और भारतीय समाज की राष्ट्रीयता को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। अवध के नवाबों में वाजिदअलीशाह अंतिम थे। अगरेजी (कपनी) सरकार की हड़पनीति और कूट-नीति के शिकार होनेवालों में वह भी थे। अपनी विलासिता के कारण अवध की नवाबी उन्हे छोड़नी पड़ी। अंगरेज इतिहासकार बताते हैं कि वाजिदअलीशाह कबाब और शराब में डूबे रहते थे। उन्हीं इतिहासकारों ने नवाब को ऐयाश और हरमपरस्त दिखाया है।

मानव मूल्य और साहित्य—धर्मवीर भारती, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृ० १८०, मू० ३.५० रु०।

उपन्यास इतिहास के पात्रों से संबद्ध है, अतः ऐतिहासिक है। नवाब वाजिद अली शाह उपन्यास के मुख्य पात्र हैं। प्रस्तुत उपन्यासलेखक का यह दावा है कि उसने वाजिदअली शाह के चरित्र को नवीन ढंग से पेश किया है। उसने 'अपनी बात' में कहा है कि नवाब विलासी, अदूरदर्शी, अकर्मण्य नहीं थे बल्कि यह अंगरेज इतिहासज्ञों का मिथ्या आरोप है। वाजिदअलीशाह पर लगाए गए इन मिथ्या आरोपों को गलत साबित करने के लिये लेखक ने नवाब का चरित्र नए आयाम में चित्रित किया है। किंतु उपन्यास पढ़ने पर स्पष्ट है कि लेखक नवाब को विलासहीन, दूरदर्शी और कर्मण्य साबित करने में असमर्थ रहा है। हरम में अनेक बेगमों के रहते हुए क्रिस्तानी मरियम को नवाब द्वारा अपनाना तथा कई कई दिन तक हरम से न निकलना, नवाब की ऐयाशी ही जाहिर करता है। मरियम को नवाब की बेगम बनाने मे अंगरेजों का षड्यंत्र भले ही रहा हो, किंतु नवाब की कमजोरी भी झलकती है। अपनी इस विलासी प्रवृत्ति के कारण नवाब न राजकाज देख पाते हैं, न शासनव्यवस्था ही सँभाल पाते हैं। रजीडेंट के इशारे पर केवल दस्तखत करना जानते हैं। हाँ, कभी कभी अंगरेजों के षड्यंत्र और कूटनीति पर पश्चात्ताप अवश्य करते हैं, और कुछ नहीं। वस्तुतः वाजिदअलीशाह के चरित्र में कोई नवीनता नहीं।

पुरुष पात्रों में वजीर नकी खाँ का चरित्रचित्रण सफल रूप में हुआ है। विश्वासघाती और स्वदेशविरोधी के रूप में नकी खाँ सामने आता है। वह व्यक्तिगत लाभ को ही महत्व देता है। फलतः नवाबी के अंत के लिये वह अंगरेजों की सहायता करता है जिसमें वह सफल होता है। अपने इस उद्देश्य के निमित्त वह अनेक देशविरोधी कार्य करता है। अंत में अपने कृत्यों पर उसका पश्चात्ताप करना नाटकीय अस्वाभाविकता ला देता है।

रेजीडेंट स्लीमैन कूटनीति में दक्ष है। वह नवाब वाजिदअली शाह की नवाबी समाप्त करना चाहता है। इसके लिये वह साम, दाम, दंड, भेद से काम लेता है। वह अपने कार्य मे पूर्ण सफल है। लेखक द्वारा स्लीमैन का चरित्रचित्रण स्वाभाविक हुआ है।

स्त्री पात्रों में मरियम बेगम के चरित्र में लेखक ने सिनेमा का रंग भरा है। नवाब को ऐश ओ आराम में डुबाने के लिये अंगरेजों ने मरियम को नवाब की बेगम बनने के लिये भेजा। वह नवाब को चंगुल में फँसाकर अंगरेजों को गुप्त रूप से भेद देती है। बाद में उसका दिमाग बदलता है, उसमें सिनेमा जैसी तब्दीली आती है और वह बीमार हो जाती है।

इस बीच देशद्रोही नकी खाँ की लड़की अख्तर देशहित के लिये नवाब से निकाह करती है, जो बड़ा अस्वाभाविक सा लगता है। वह हरम में जाकर मरियम बेगम पर नजर रखती है। धीरे धीरे अख्तर बेगम नवाब के नजदीक हो जाती है और वक्त पड़ने पर वाजिदअली शाह को सलाह देती है। बेगम अख्तर का चरित्र सरल ढंग से आगे बढ़ता है। उसमें गंभीरता के साथ साथ देशहित की प्रबल ज्वाला है। लेखक ने अख्तर का चरित्र निखारने में बुद्धि से काम लिया है, किंतु मरियम बेगम के चरित्र में सिनेमा का ढंग लाकर उसका अंत कर दिया है।

उपर्युक्त पात्रों के अलावा और भी अनेक स्त्री पुरुष पात्र हैं जो वक्त बेवक्त अपना कौशल दिखाकर लुप्त हो जाते है।

कथावस्तु जगह जगह नीरस और शिथिल है। बीच बीच की फालतू घटनाएँ न कथानक को गति प्रदान करती हैं न चरित्र को उभारती हैं। पात्रों के चित्रण मे कोई दृष्टि नहीं।

इतिहास के साथ लेखक की कल्पना का सहयोग नहीं हो पाया है। लेखक को चाहिए कि वह ऐतिहासिक उपन्यास लिखे तो सबद्ध युग की जीवंत संपूर्णता का आभास प्राप्त कर ले, तत्कालीन समाज के समस्त वैशिष्ट्य से परिचित हो ले। ऐतिहासिक उपन्यास के लिये यह वाछनीय है कि युग का समस्त वातावरण पाठकों के सामने उभर आए। साहित्य मे कल्पना का विस्तार होता है, किंतु ऐतिहासिक कथा मे जब कल्पना बलवती हो जाती है तब वह ऐतिहासिक नहीं रह जाती।

उपन्यास मे भाषा संबंधी अनेक दोष है। कहीं वाक्यगठन टूटा दीखता है तो कहीं शब्द संगठन। कहीं उर्दू के शब्दों के साथ सस्कृत, कहीं हिंदी या सस्कृत के साथ अप्रचलित उर्दू शब्दों की अजीब खिचड़ी है। एक दो उदाहरण —

'... हुकूमत के लिए विलासिता का खजर मृत्यु का आवाहन कर देगा। हरम की परम सुदरी यौवनाओं के गेसू फिरंगी राजनीति की मधुर बीन के आगे मस्त साँप बनकर अवध, अवध के हाकिम और अवध की हुकूमत को एक साथ डस जाएँगे।' (पृ० २२)

'हुकूमत' के साथ 'विलासिता' और 'हरम' के साथ 'परम सुदरी यौवनाओं' शब्दों का मेल 'वाजिदअलीशाह' उपन्यास की भाषा के नाम पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है। 'वाजिदअलीशाह' उपन्यास के लिये ऐसी घटिया भाषाशैली कदापि अपेक्षित नहीं थी।

एक दूसरा वाक्य देखिए —

'आज जो कुछ हुआ, अवध के इतिहास की नयी बात था ।' (पृ० २९)

'माने' के लिये 'मायने', 'रूबरू' के लिये 'रौबरू' जैसे अनेकानेक शब्दों के प्रयोग हर जगह देखने को मिलेंगे।

इन तमाम त्रुटियों के होते हुए भी उपन्यास पठनीय है। छपाई और गेटअप ठीक है।

— जयशंकर यात्री

*

१ – वाजिदअलीशाह – आनंदसागर श्रेष्ठ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली, पृ० २५५, मू० ६ ०० रु०।

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ [illegible] है और